संशोधन ग्रन्थमाला-ग्रन्थांक ६०
सेठ भोलाभाई जेसिंगभाई अध्ययन-संशोधन विद्याभवन

मथुरा-कला

लेखक
श्री. वासुदेवशरण अग्रवाल
एम ए., पीएच डी., डी लिट्
भारतीय कला व स्थापत्य के प्राध्यापक
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद

प्रकाशक : डॉ. हरिप्रसाद शास्त्री, उपाध्यक्ष,
सेठ भो. जे. अध्ययन-संशोधन विद्याभवन,
र. छो. मार्ग, अहमदाबाद-९ (गुजरात)

प्रथम संस्करण वि. स. २०२०
प्रति : ५०० ई. स. १९६४

मूल्य साढ़े पाँच रुपये

दादा साहब

श्री गणेश वासुदेव मावलङ्करको ये व्याख्यान सादर समर्पित हैं। गुजरातकी गुणवन्ती जनताके वे कितने निकट थे इसका अनुभव मुझे व्याख्यानोंके समय हुआ था। कालान्तरमें जो स्नेह उनसे मुझे प्राप्त हुआ उसकी कृतज्ञ स्मृतिमात्र अब शेष है।

वासुदेवशरण अग्रवाल

प्रकाशककी ओरसे

गुजरात विद्यासभा स्थापित भो. जे. अध्ययन संशोधन विद्याभवनकी संशोधन ग्रन्थमालामें भाषा और साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व एवं समाजशास्त्रके कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। अब इसमें भारतीय प्राचीन कलाका यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है।

इस विद्याभवनने १९४६में संशोधन व्याख्यानमालामें भारतीय प्राचीन शिल्पकला पर व्याख्यान देनेके लिये डॉ. वासुदेवशरण अग्रवालजीको आमन्त्रण दिया था और आपने १९४६के दिसम्बरमें मथुरा-कला पर चार व्याख्यान दिये थे। ये व्याख्यान लिखित रूपमें हमें १९६१में मिले और ये अब प्रकाशित हो रहे हैं।

भारतीय पुरातत्त्व और संस्कृतिके, विशेषतः प्राचीन कलाके, क्षेत्रमें डॉ. वासुदेवशरणजीकी गणना सर्वोत्तम बहुश्रुत विद्वानोंमें की जाती है। इन व्याख्यानोंमें आपने मथुराकी बौद्ध, ब्राह्मण और जैन कलाकृतियोंका विद्वत्तापूर्ण परिचय दिया है। हमारी संशोधन ग्रन्थमालामें इस ग्रन्थको प्रकाशित करना हमारे लिये गौरव और सौभाग्यका विषय है।

सेठ भो. जे. अध्ययन-
संशोधन विद्याभवन
अहमदाबाद-९
९-५-१९६४

हरिप्रसाद गं. शास्त्री
उपाध्यक्ष

भूमिका

अहमदाबादकी सुप्रसिद्ध संस्था श्री गुजरात विद्यासभाने मुझे सन् १९४६मे कुछ व्याख्यानोंके लिए आमंत्रित किया था। उस समय 'मथुरा-कला' यह विषय मैंने अपने लिए चुना। तदनुसार १७-१२-१९४६ से २०-१२-१९४६ चार दिन तक मैंने दीप्ति-चित्रोंके साथ मौखिक भाषण दिए थे। अनेक सयोगोंको पार करके वे अब इस रूपमे प्रकाशित हो रहे हैं, इसकी मुझे प्रसन्नता है।

इसके लिए मैं अपने वयोवृद्ध मित्र श्री पंडित सुखलालजीका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ, जिनकी प्रेरणासे इन भाषणोंका प्रकाशन सम्भव हो सका है। इसके अतिरिक्त मै स्वर्गीय श्री दादा साहब मावलकरका भी इस अवसर पर कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करता हूँ, जो चारों दिन भाषणोंका सभापतित्व करनेके लिए उपस्थित रहे और जिन्होंने इसी समय अत्यन्त उत्साहप्रद शब्दोंके साथ भाषणोंमे रुचि ली।

विद्याभवनके अध्यक्ष श्री रसिकभाई परीख भी मेरे धन्यवादके पात्र हैं, जिन्होने मेरे दीर्घकाल यापनको सह कर मुझे इन भाषणोंके प्रकाशनकी सुविधा प्रदान की।

मथुरा-कला और उसके सर्वांगपूर्ण इतिहासका विषय अत्यन्त विस्तृत है। भारतीय कलाके इतिहासमे मथुराका वही स्थान है, जो यूरोपकी कलाके इतिहासमे एथेन्स नगरका है। पर मथुराके साथ आज तक पूरा न्याय नहीं हो सका। मथुरा कलाकी तुलना उस बड़े अन्नकूटसे करनी चाहिए, जिसमे सैकड़ो थालोंमे मिष्टान्नों-का सम्भार सज्जित किया जाता है। मेरी इच्छा है कि निकट भविष्यमे मथुरा-कलाका एक बड़ा सर्वांगपूर्ण परिचयात्मक इतिहास तैयार करूँ और उसके साथ कई सौ चित्र भी सम्मिलित करूँ। उस सिद्धि तक पहुँचनेके लिए यह छोटी पुस्तक चासनी मात्र है। इसमे भी जो कुछ कहा गया है उससे मथुरा-कलाके महान् स्वरूपकी कुछ झाँकी पाठकोंको प्राप्त होगी ऐसी मुझे आशा है।

काशी विश्वविद्यालय — वासुदेवशरण अग्रवाल
२३-२-६४

दादासाहब मावलंकरजीका वक्तव्य

ते पछी श्री गणेश वासुदेव मावलंकरे व्याख्यातानो आभार मानतां जणाव्युं हतुं के डॉ. अग्रवाले अहीं आवीने आ चार दिवस दरम्यान जे उपयोगी छतां रसप्रद ज्ञान आपणने आप्युं छे ते बदल आपणा तरफथी हुं तेमनो हार्दिक आभार मानुं छुं. एमणे जे रसिक माहिती आपणने आपी छे तेनी पाछळ भाषा-ज्ञान, संस्कृति-ज्ञान अने इतिहास-ज्ञान रहेलां छे. एमणे तो जाणे सहजभावे आ बधुं रजू कर्युं छे, पण आपणे न भूलीए के वर्षोनी साधनाना परिपाकरूपे ए ज्ञान आपणी समक्ष एमणे मूक्युं छे.

आ प्रकारनां व्याख्यानोमां श्रोताओनी आवडी मोटी हाजरी होय एने धन्यवादार्ह गणीने दादासाहेबे जणाव्युं के आधुनिक सुखसामग्रीने अधिकाधिक प्रमाणमां वसावीए एटलामां स्वराज्यनी कल्पना पूरी थई जती नथी. आपणी संस्कृतिना अधिकाधिक विकासमां सहायरूप थाय ते ज साचुं स्वराज्य छे. पांच हजार वर्ष पूर्वेनी जे भारतीय संस्कृतिनी आपणे वातो करीए छीए, तेने दश हजार वर्षनी थवा देवी हशे तो आपणी भूतकालीन संस्कृति साथे आपणे अनुसंधान करवुं रहेशे. आ प्रकारनां व्याख्यानो ए अनुसंधान माटे सहायरूप छे. आपणी प्राचीन कलासम्पत्ति, भावना-सम्पत्ति ए सर्वनो ख्याल आ व्याख्यानोमांथी आपणने मळ्यो छे.

डॉ. अग्रवाले व्याख्यानो आपवाने माटे अंग्रेजीनो नहीं पण हिन्दीनो आश्रय लीधो हतो. ए विशे श्रोताजनोनुं ध्यान खेंचीने दादासाहेबे जणाव्युं हतुं के अंग्रेजी विना चाले ज नहीं ए मान्यताने एम करीने एमणे पडकार आप्यो छे. अंग्रेजी करतां हिन्दीमां व्याख्यानो अपायांथी लोको वधारे संख्यामां लाभ लई शक्या छे अने वधारे प्रमाणमां समजी पण शक्या छे. हिन्दुस्तानी राष्ट्र-भाषा छे एनुं पण व्याख्यानो एक प्रमाण छे.

गुजरात विद्यासभा—गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटीने हवे आ नामे ओळखवानी छे—ने आश्रये अपायेला आ व्याख्यानो योजवानी पाछळ सांस्कृतिक उन्नतिनो हेतु रहेलो छे एम जणावीने युवकोने डॉ अग्रवालनी उपासनाने दृष्टान्तरूप गणवानी शीख आपता दादासाहेबे कह्युं हतुं के जे एकाग्र उपासना डॉ अग्रवाले करी छे ते प्रकारनी उपासना करवानो निश्चय करनारा युवकोनी पुष्कळ जरूर छे एमनी उपासनानी स्फूर्ति आपणने मळे ए आशा तेमणे अतमा व्यक्त करी हती

—प्रजाबन्धु, २९ दिसम्बर, १९४६

अनुक्रम

चित्रसूची

मथुरा-कला

पहिला व्याख्यान

मथुरा-कला

प्राचीन शूरसेन जनपदकी राजधानी मथुरा भारतकी सप्त महापुरियोंमे विख्यात है। उत्तरापथको अलकृत करनेवाला गगा-यमुनाका जो कण्ठहार है उसमे सुन्दर मुक्ताफलकी तरह यमुनाके दक्षिण तट पर मथुरापुरीका सन्निवेश है। किसी पूर्व युगमें जब आर्योका लोक सनातन चक्र पूर्वसे पश्चिम तक पृथ्वीको आत्मसात् करता हुआ फैल रहा था उस समय पाँच नदियोंके वाहीक देश और गगा-यमुनासे परिवेष्टित मध्यदेशकी मिलती हुई सीमाओं पर जहाँ उनके रथका पहिया भू-मापनके लिये ठहरा होगा वह स्थान मथुरा ही हो सकता है। देशके पूर्व और पश्चिम भागोंके बीचमें यातायातकी धमनी का नाम उत्तरपथ था। प्राचीन उत्तरपथ नामक मार्ग पर मथुराकी जितनी महत्त्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति है उतनी अन्य किसी नगर की नहीं। मध्य-प्रदेशका जो पश्चिमाभिमुखी ललाट है, मथुरा उसका सुन्दर तिलक कहा जा सकता है।

यह भौगोलिक स्थिति मथुराके लिये बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुई। पूर्व और पश्चिमके बीचमे स्थित होनेके कारण जन्मसे ही मानो समन्वयका मन्त्र मथुराके भाल पर लिख गया था। समन्वय मथुराकी सस्कृतिका बीज है। उससे जो अकुर पल्लवित हुए उनसे समस्त देशका हित हुआ। मथुराके बहुविध इतिहासका अन्तर्यामी सूत्र अनेक सस्कृतियोंका मेल या समन्वय ही है, जिसके द्वारा अनेक प्रकारकी विविधताको स्वीकार करते हुए जनताने उसके भीतरसे पारस्परिक प्रेम, सम्मिलन और एकताको प्राप्त किया। मथुरासे इतिहास और शिल्पकलाकी जो बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध हुई है उससे इस

समन्वयके सम्बन्धमें कई बातें स्पष्टतया ज्ञात होती हैं।

मथुराकी भूमिमें पहिला समन्वय भारतीय, यूनानी और इरानी संस्कृतियोंके सम्मिलनके रूपमें हुआ। ये तीनों धाराएँ ऐतिहासिक क्रमसे मथुरामें एक-दूसरेके साथ टकराईं, परन्तु दो-एक शताब्दियोंमें ही वह संघर्ष समन्वयके रूपमें बदल गया और फलस्वरूप भारतीय संस्कृतिकी मूल धारा ईरानी और यूनानी प्रभावोंको अपने भीतर समेटकर और भी अधिक वेगसे आगे बढ़ी। इस सांस्कृतिक समन्वयका स्पष्ट परिणाम मथुराकी कलामें लक्षित होता है। भारतीय कलाकी धार्मिक सत्यता, ईरानी कलाकी स्पष्ट सरलता और यूनानी कलाकी बाह्य सुन्दरता अर्थात मानवीय शरीरके बाहिरी आकर्षणको चित्रित करनेकी प्रवृत्ति—इन तीन गुणोंके एकत्र होनेसे मथुरा-कलाका सौंदर्य और आकर्षण निखरकर अभूतपूर्व हो गया। ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दीमें मौर्योंके राजसंगठनके टूटने पर यूनानी राज्यशक्तिके पीछे-पीछे यूनानी संस्कृति और कलाने भी प्रसार पानेके लिये इस देशमें पैर बढ़ाए। लगभग सौ वर्ष बाद प्रथम शती ई. पूर्वसे प्रथम शती ई. तक ईरानके शकोंने भारतमें प्रवेश किया। इन दोनोंका प्रभाव भारतके उत्तर-पश्चिम अंचल पर विशेष रूपसे फैला, पर मथुरा तक पहुँचते-पहुँचते ये दोनों कलाएँ और संस्कृतियाँ शुंगकालीन भारतीय संस्कृतिके सामने नतमस्तक होती हुई दिखाई पड़ती हैं। ऐसा जान पड़ता है, मानो मध्यदेशकी प्राणवन्त संस्कृतिने उन्हें पचा लिया हो। ईसाकी पहिली-दूसरी शताब्दियोंमें शक और कुषाण-वंशी राजाओंका राज्य मथुरामें स्थापित हुआ। पर उससे भारतीय कला दबनेके स्थानमें और भी अधिक तेजस्वी बनकर प्रकट हुई। भारतीय कलाके इस प्रभावशाली अस्तित्वके कारण ही आगन्तुक शक-यवन संस्कृति और कलाकी गुणमयी विशेषताएँ भारतीय धारामें पच गईं। ईरानी-यूनानी-भारतीय इन तीन संस्कृतियों और कलाओंके मिलनकी पहिली त्रिवेणी मथुराकी समन्वयप्रधान भूमि में प्रकट हुई।

प्राचीन भारतकी तीन बडी धार्मिक विचारधाराओंका सम्मिलन मथुराके इतिहासकी दूसरी विशेष घटना है। ब्राह्मणधर्म बौद्धधर्म और जैनधर्म ये तीनों मथुरा के समन्वयप्रधान वातावरणमे कई शताब्दियों तक एकसाथ मिलकर फूलते-फलते रहे। भारत-वर्षमें शायद ही कोई ऐसा दूसरा स्थान हो जहाँ तीनों धर्मो की एकसाथ इतनी भारी हलचल इतने अधिक दिनों तक चलती रही हो। प्रथम शताब्दी ई पूर्वसे लगभग पाचवी शताब्दी तक तीनो धर्मोंके आचार्योंने अपने-अपने अभ्युदयके लिये मथुरा-केन्द्रमे भरसक प्रयत्न किया। बौद्धोंके सर्वास्तिवादी, महासांघिक और धर्मगुप्तक सम्प्रदायोंके केन्द्र मथुरामे थे, यह यहांके शिलालेखोंसे ज्ञात होता है। सर्वास्तिवादी आचार्यों का, जो एक समय गन्धारसे लेकर सारे उत्तर भारतमे फैले हुए थे, मथुरा बहुत ही बडा अड्डा था। सम्राट् कनिष्क स्वय सर्वास्तिवादियोंके पोषक थे। बौद्धोंके ये विभिन्न सम्प्रदाय थोडा-थोडा मतभेद रखते हुए भी आपसमे मिलकर रहते और मथुराके धार्मिक जीवनमे चहल-पहल बनाए रखते थे।

इसी प्रकार जैनधर्मके शिलालेखोंसे ज्ञात होता है कि मथुराके देवनिर्मित जैन स्तूपमे सघके अनेक गण, शाखाएँ और कुल मिलकर विद्या और धर्मकी उन्नतिके लिये काम कर रहे थे।

ब्राह्मणधर्मका मथुराके साथ सम्बन्ध भगवान् कृष्णके युगसे था। मथुरासे प्राप्त जो पुरातत्त्वकी सबसे पुरानी सामग्री है, उससे इतनी बातें तो निश्चित रूपसे जान पडती है कि प्रथम शताब्दी ई पूर्वसे मथुरा ब्राह्मणधर्मका एक बहुत बडा केन्द्र बन गया था। मथुरासे लगभग ढाई सौ मील दक्षिणमे स्थित बेसनगरमे यवन राजदूत हेलियोदोरने भगवान् वासुदेवका गरुडध्वज स्थापित किया। बेसनगरके पास ही साँचीमे मथुराके लाल पत्थरकी बौद्ध मूर्तियाँ मिली हैं। पश्चिमकी ओर राजपूतानेके घोसूण्डी नामक गाँवसे प्राप्त लेखसे ज्ञात होता है कि वहाँ सकर्षण और वासुदेवके मन्दिर थे। स्वय मथुरामें वासुदेवके एक मन्दिरकी सिरदल पर लिखा हुआ

एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, जो शोडासके राज्यकाल (प्रथम शती ई. पूर्व)का है। इससे सिद्ध होता है कि वासुदेव और संकर्षणकी भक्ति पर आश्रित भागवतधर्मका प्रभाव मथुरासे लेकर पश्चिममें चित्तौड़ तक और दक्षिणमें साँची-भेलसा तकके बड़े प्रदेशमें फैला हुआ था। समयके साथ यह प्रभाव बराबर बढ़ता गया और धार्मिक जीवनके जो उपयोगी तत्त्व हैं उन सबको एकसाथ मिलाकर भक्तिप्रधान भागवतधर्मके रूपमें प्रकट हुआ। परमभागवत गुप्त राजाओंके समयमें धर्मका यह रूप बहुत अधिक विस्तार और प्रभावको प्राप्त हुआ। जान पड़ता है कि भागवतधर्मके निर्माणकारी तत्त्वोंने सहिष्णुता और समन्वयके प्रचारमें सबसे अधिक योग दिया। इनकी छाप सम्भवतया महायान बौद्धधर्म पर भी पड़ी, जो सर्वथा भक्तिप्रधान और लोकसंग्रहका समर्थन करनेवाला मार्ग था। न केवल ब्राह्मण, जैन और बौद्ध इन तीन बड़े धर्मोंको हम मथुराकी भूमिमें पनपते हुए देखते हैं, बल्कि ब्राह्मणधर्मके अन्तर्गत भी जो शैव और वैष्णवोंके भेद हैं, उन दोनोंने भी मथुराको अपना केन्द्र बनाया। शैवधर्मकी महत्त्वपूर्ण सामग्री मथुराके पुरातत्त्वमें पाई गई है।

तीन प्रधान भारतीय धर्मोंका विचारकेन्द्र होनेके कारण यह स्वाभाविक है कि मथुरा में जिस शिल्पकलाका निर्माण हुआ उसको इन धर्मोंसे प्रेरणा मिली। मथुरा-कला ब्राह्मणधर्म, बौद्धधर्म और जैनधर्म इन तीनों धर्मोंकी अनुगत है। उन धर्मोंके माननेवालोंकी जो भक्ति-भावनाएँ थीं उनकी स्पष्ट व्याख्या आजतक हम उन मूर्तियोंके रूपमें देखते हैं, जो मथुरामे मिली हैं। यद्यपि शैलीकी दृष्टिसे मथुरा-कलाका अखण्ड व्यक्तित्व है, फिर भी धार्मिक भेदोंके अनुसार मथुराकी शिल्पसामग्रीके तीन विभाग सरलतासे हो जाते हैं—बौद्ध, जैन और ब्राह्मण। इस प्रकार तीनों कलाओंका अस्तित्व मथुराकी शिल्पसामग्रीमें पाया जाता है।

मथुराके भक्तिप्रधान वातावरणका ही यह फल मालूम

होता है कि इतने विभिन्न तत्त्व एकसाथ मिलकर यहाँ रह सके और एक समन्वयप्रधान संस्कृतिका निर्माण करनेमे समर्थ हुए। पारम्परिक सद्भाव की नीव पर विकसित उस समन्वयात्मक संस्कृतिने गुप्तकालमे समस्त देशमे फैलकर राष्ट्रीय संस्कृतिका रूप धारण कर लिया। आजतक वही सहिष्णुताप्रधान विचारधारा भारतवर्षकी मूल संस्कृतिके रूपमें देशमे व्याप्त है।

मध्यदेशकी यह 'संज्ञानात्मक' संस्कृति ही हमारी राष्ट्रीय संस्कृति है। भेदोंको मिलाकर एक करनेकी इसमे अद्भुत विशेषता है। भारतवर्षके धार्मिक, सांस्कृतिक और शिल्प-स्थापत्य सम्बन्धी इतिहासमे मथुराका जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसका सबसे उत्कृष्ट प्रमाण यहाँसे प्राप्त शिल्पकी सामग्रीमें मिलता है। अतएव मथुराकी शिल्पकलाका विशेष अध्ययन आवश्यक है, जिससे हम अपने प्राचीन सांस्कृतिक विकासको समझनेमें सहायता प्राप्त कर सकें।

संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय

पुराणोंकी अनुश्रुतिसे मथुराके सम्बन्धमें ज्ञात होता है कि मधु नामके असुरने एक पुरीकी स्थापना की थी, जो उसके नामसे मधुपुरी कहलाई। उसका पुत्र लवणासुर हुआ। मधुके नामसे अभी तक मथुरासे लगभग चार मील हटकर महोली नामका गाँव बसा हुआ है और उसके पास लवणासुरसे सम्बन्धित नोनासुरका टीला भी बताया जाता है। लवणासुरको परास्त करके शत्रुघ्नने वर्तमान मथुरापुरीकी स्थापना की। सम्भव है कि इस अनुश्रुतिके पीछे कोई प्रागैतिहासिक सत्य छिपा हो। उच्चारणभेदसे मधुरा ही मथुरा कहलाई। जैन और बौद्ध ग्रन्थोंमे इसका नाम मधुरा या महुरा भी पाया जाता है।

मथुराके इतिहासकी दूसरी बड़ी घटना भगवान् कृष्णका जन्म है, जिसके कारण यह पुरी हमेशाके लिये अमर हो गई।

महाभारतके बाद महाजनपदोंके युगमे मथुराके इतिहास पर प्रकाशकी किरणें अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। छठी शती ई पूर्वमें

मथुराका सम्बन्ध अवन्तिके राजघरानेसे था। अवन्तिके राजा प्रद्योतकी एक कन्या वासवदत्ता वत्सराज उदयनको व्याही थी। दूसरी कन्याका विवाह मथुराके राजाके साथ हुआ था। इस प्रकार मथुराका राजा अवन्तिपुत्र वासवदत्ताकी बहिनका लड़का था। माधुरियसुत्तन्तके अनुसार अवन्तिपुत्रने बुद्धके शिष्य महाकात्यायनसे मथुराके गुन्द-वनमें भेंट की। बुद्धके दूसरे शिष्य महाकाश्यपकी स्त्री भद्रा कापिलानी मथुराकी ही थीं। यद्यपि त्रिपिटकसूत्रोंमें ऐसा कोई उपदेश नहीं मिलता जो भगवान् बुद्धने मथुरामें किया हो, फिर भी एक वार हम उन्हें मथुरा और वेरंजाके रास्ते पर जाते हुए देखते हैं। सम्भावना तो यही है कि शूरसेन जैसे महाजनपदकी राजधानीको भगवान् बुद्धने अपनी दीर्घकालीन यात्राओंमें अवश्य देखा होगा। वादकी वौद्ध अनुश्रुति बुद्धकी मथुरायात्राको निश्चित रूपसे मानती है। दिव्यावदानके अनुसार बुद्धने यह भविष्यवाणी की थी कि आगे चलकर मथुरा वहुत बड़ी नगरी होगी (पृ. ३४८)।

पाँचवी शताब्दी ई. पूर्वमें पाणिनिकी अष्टाध्यायीके सूत्रोंमें मथुराका नाम नहीं है, किन्तु 'वरणादिभ्यश्च' (४।२।८२) सूत्रके गणपाठमें मथुराकी भी गणना है। मौर्यकालमें मथुराका वौद्धधर्मके साथ विशेप सम्बन्ध हुआ। शोणवासी नामक आचार्यने वौद्धधर्मके प्रचारके लिये एक विहारकी स्थापना की, जिसका नाम नटभट विहार था। इस आचार्यके शिष्य मथुरावासी उपगुप्तने सम्राट् अशोकको वौद्धधर्ममें दीक्षित किया। कहा जाता है कि अशोकने मथुरामें बुद्धके प्रमुख शिष्योंके नामसे कई वड़े स्तूप वनवाए थे, जिनका वर्णन चीनी यात्री युआन-चुआङ्ने किया है। शुंगकालमें मथुराके महत्त्वका कुछ आभास पतंजलिके निम्नलिखित उदाहरणोंसे मिलता है—

सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतरा इति।
सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुरा अभिरूपतरा इति।

(महाभाष्य ५।३।५७)

अर्थात्—सांकाश्यके नागरिकोंसे पाटलिपुत्रके निवासी अधिक कान्तिमान् हैं। एवं मथुराके नागरिक सांकाश्य और पाटलिपुत्र

दोनों स्थानोंके नागरिकोंसे भी कान्तिमत्तामें बढचढकर हैं।

प्रथम शताब्दी ई पूर्वके लगभग मथुरा पर क्षहरातवंशी शकोंका अधिकार हुआ। उनमें महाक्षत्रप रजुवुल और उसके पुत्र महाक्षत्रप शोडासके नाम ज्ञात हैं। सिक्कोंसे क्षत्रप हगामशका नाम भी मिलता है। क्षहरात शकोंके बाद मथुरामें कुछ समयके लिये दत्तवंशका अधिकार हुआ, जिसके नामके सिक्के मथुरा मे पाए गए हैं। शकोंके सिक्कोंसे ही मिलतेजुलते कुछ और सिक्के मथुरामे और उसके आसपास मिले हैं, जो राजन्य जनपदके (राजन जनपदस) हैं।

इसके बाद मथुराके इतिहासमे एक भारी परिवर्तन हुआ और ईस्वी सन्के प्रारम्भके लगभग शकवंशी राजाओंने मथुराको किसी तरह अपने अधिकारमें कर लिया। इन राजाओंकी तालिका इस प्रकार है—

कदफ-प्रथम (कुजुल्कर), कदफ-द्वितीय (वेम तक्षम) इन दोनों राजाओंने प्रथम शताब्दीके आरम्भसे ७८ ईस्वी तक राज्य किया।

कनिष्क—७८ ई से १०२ ई तक
वासिष्क—१०२ ई से १०६ ई तक
हुविष्क—१०६ ई से १३८ ई तक
वासुदेव—१३८ ई से १७६ ई तक

ये सम्राट् शकोंकी कुषाण शाखासे सम्बन्धित होनेके कारण कुषाणवंशी कहलाते हैं। वासुदेवके राज्यकालके बाद भी उत्तरकालीन कुषाणोंकी शाखा चलती रही। अतएव मथुराके इतिहासमें ईसाकी आरम्भिक शताब्दियोंका समय शक-कुषाण कालके नामसे प्रसिद्ध है। कलाकी दृष्टिसे पहिली-दूसरी शताब्दीका समय मथुराका स्वर्ण-काल माना जाता है। इस समयकी कलाने नवनिर्माणकी अद्भुत शक्ति प्रदर्शित की। कुषाणकालीन शिल्पकलामें नेत्र और मन दोनोंको प्रसन्न करनेकी अद्भुत क्षमता और पर्याप्त सामग्री है। तक्षशिलासे पाटलिपुत्र तकका प्रदेश कुषाण सम्राटोंके राज्यविस्तार या राजनैतिक प्रभावके अन्तर्गत था, मथुरा उस प्रभावका सबसे बडा मध्यवर्ती केन्द्र था।

मथुराके शिल्पियोंने इस समय कलाके क्षेत्रमें बड़ा साका किया। उन्होंने जिस नई शिल्पकला-शैलीको जन्म दिया वह उत्तर भारतमें सर्वत्र फैल गई। मथुराकी बनाई हुई बौद्ध मूर्तियाँ और शिल्पके अन्य उदाहरण साँची, सारनाथ और श्रावस्ती जैसे दूर-दूरके स्थानोंमें पाये गये हैं।

कुषाणोंके बाद लगभग ३०० ई.से ६०० ईस्वी तकका समय गुप्तयुग कहलाता है। मथुरा-कलाकी परम्परा गुप्तयुगमें और भी विस्तृत हुई। परमभागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके राज्यकालके दो लेख मथुरासे मिले हैं। गुप्तोंका मथुराके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध ज्ञात होता है। ४०० ई.के लगभग चीनी यात्री फाहिअन मथुरामें आया था। उस समय उसने मथुराके चारों ओरके प्रदेशको मध्यदेश कहा है। चन्द्रगुप्तके समयमें मथुरा सचमुच मध्यदेशकी संस्कृतिका केन्द्र थी। उस समय वहाँ बौद्ध और जैन विहारोंके अतिरिक्त ब्राह्मणोंके भी कई देवमन्दिर थे। विष्णु आदि देवताओंकी उपलब्ध गुप्तकालीन प्रतिमाओंसे यह बात सिद्ध होती है। सातवीं शताब्दीके लगभग मथुराकी शिल्पकलाका प्रवाह मंद पड़ जाता है। उसमें न तो विषयकी दृष्टिसे नई कल्पना करनेकी शक्ति दिखलाई देती है और न सुन्दरताकी ही दृष्टिसे कोई विशेषता रह जाती है। शिल्पी मानो ललितकलाका संदेश भूल जाते हैं और कुछ गिने-गिनाए लक्षणोंके अनुसार स्फूर्तिरहित मूर्तियोंका निर्माण कर सन्तोष मान लेते हैं। सातवीं शताब्दीसे बारहवीं शताब्दीका समय कलानिर्माणकी दृष्टिसे शून्य है। उसमें किसी प्रकारकी नई प्रतिभाके दर्शन नहीं होते। उस युगमें कलानिर्माणकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र मथुरासे बाहर स्थापित हो जाते हैं एवं मध्यकालीन शिल्पकलाकी बागडोर उनके हाथमें चली जाती है।

बुद्धकी मूर्ति

मथुरा-कलाकी सबसे बड़ी विशेषता बुद्धकी मूर्तिका निर्माण है। बुद्धकी मूर्तिका आविष्कार कुषाण-कालके आरम्भमें प्रथम

शती ई के लगभग हुआ। इससे पहिले शुगकालकी कलामें बुद्धका चित्रण मनुष्य रूपमे नहीं पाया जाता। भोपालके निकट साँची नामक स्थानमे और मध्यभारतकी नागोद रियासतके भरहुत नामक स्थानमें शुगकालीन कलाके दो बडे केन्द्र पाये गये हैं। साँची और भरहुतकी कला भारतीय बौद्ध कलामे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वहाँके स्तूपाकी चारदीवारीके खम्भो (वेदिकास्तम्भों) पर और तोरणों पर बुद्धकी जीवन घटनाएँ और उनके पूर्वजन्मकी कथाएँ, जिन्हें जातक कहते हैं, अनेक प्रकारसे अकित की गई हैं। उन सबमे बुद्धका चित्रण केवल प्रतीक रूपमे किया गया है। बुद्धके प्रतीककी कल्पना कई प्रकारके चिह्नों द्वारा की गई है। उदाहरणके लिये बोधगयामें सबोधि प्राप्त करनेवाले बुद्धके प्रदर्शनके लिये बोधिवृक्षका सकेत काममें लाया गया है। सारनाथमें उपदेश देते हुए बुद्धका चित्रण धर्मचक्र अकित करके बताया गया है। बुद्धने जो धार्मिक उपदेश सारनाथमे दिया था उसे बौद्ध साहित्यमे धर्मचक्र-प्रवर्तन कहा गया है। इस घटनाके चित्रणके लिये धर्मचक्र सुन्दर और उपयुक्त चिह्न समझा गया। इसी प्रकार बुद्धके परिनिर्वाणका सकेतचिह्न स्तूप था। कहीं-कहीं पर बुद्धकी चरणपादुकाकी छाप भी चिह्न रूपमे प्रयुक्त हुई है। बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप, चरणपादुका —इन चिह्नोंके द्वारा बुद्धको व्यक्त करनेकी युक्ति भरहुत, साँची, बोधिगयाकी कलामे प्रयुक्त हुई है।

अशोक (तीसरी शताब्दी ई पू)के समयसे लेकर शक राजाओंके आने तक जो बीचका काल है उसमे बौद्ध कलाने बौद्धधर्मके प्रचारके लिये विलक्षण कार्य किया। शुगकालीन तोरण और वेदिका प्राचीन भारतीय कलाके महाकोशकी तरह हैं, जिनमे प्राचीन जीवनका अनेक प्रकारसे चित्रण हुआ है। पर केवल सासारिक जीवनका चित्रण उस कलाका उद्देश्य न था, उसकी मूल भावना बौद्धधर्मसे प्रेरित है। बुद्धके महान् जीवनकी अनेक गौरव घटनाओंको शिल्पमे गूथने पर भी कहीं बुद्धको मूर्तिके

रूपमें व्यक्त करनेकी आवश्यकता शिल्पीको नहीं जान पड़ी। यह बात नहीं है कि शुंग-कलामें मनुष्यकी मूर्तियोंका बिलकुल अभाव हो। वह कला अनेक प्रकारके यक्ष, नाग, मनुष्य, राजा और तपस्वियोंकी मूर्तियोंसे भरी पड़ी है। जो शिल्पी अनेक प्रकारकी छोटी-बड़ी मानवीय मूर्तियाँ बना सकते थे, उन्होंने बुद्ध-मूर्तिका निर्माण क्यों नहीं किया? इस प्रश्नका सच्चा उत्तर 'थेरवाद'की धार्मिक भावनामें ही पाया जाता है। हीनयानकी मूल विचारधारा नकारात्मक थी। व्यक्तिका निर्वाणमें पहुँचना जीवनका अंतिम लक्ष्य समझा जाता था। निर्वाण तक पहुँचनेके लिये ही बीचके जीवनकी हलचल है। जो बुद्ध एक बार निर्वाणस्थितिमें जा चुके हैं, उनका संपर्क स्थूल मूर्त भूतोंके साथ किसी तरह हो ही नहीं सकता। बुद्धकी मूर्तिकी कल्पना प्रचलित धार्मिक भावना पर सबसे बड़ा कुठाराघात होता। शास्ताका पंचभौतिक शरीर जब एक बार विशीर्ण हो गया तब तीन लोक और तीन कालमें भी उसके उस दिव्य रूपका दर्शन असंभव है। देवता और मनुष्योंमें कहीं भी कोई उसे फिर नहीं देख सकता। इस भावनाके समर्थनमें सबसे प्रामाणिक वचन भगवान् बुद्धके मुखसे ब्रह्मजालसुत्तमें कहलाया गया है—

> 'उच्छिन्नभवनेत्तिको भिक्खवे तथागतस्स कायो
> तिट्ठति। यावस्स कायो ठस्सति ताव नं दक्खिंति
> देवमनुस्सा। कायस्स भेदा उद्धं जीवितपरियादाना
> न दक्खिंति देवमनुस्सा।'

—दीघनिकायगत ब्रह्मजालसुत्त २।३।२३

अर्थात् 'ए भिक्षुओ, तथागतका स्थूल शरीर तुम्हारे सामने है, पर जो उसको फिर भवबंधनमें बाँधनेका कारण है वह कट चुका है। जबतक उसकी यह काया ठहरेगी तभी तक देवता और मनुष्य उसे देखेंगे। कायाके नष्ट होने पर जीवनकी परिसमाप्तिके बाद न उसे देवता देख पायेंगे, न मनुष्य।[1]

1. श्री अर्धेन्दुकुमार गांगुली कृत 'दी ऐंटीक्विटी ऑफ़ दी बुद्ध इमेज', दी कल्ट ऑफ़ दी बुद्ध, पृ ०३ (ओस्ट आशियाटिशे त्साइतश्रिफ्ट, भाग १४)।

निर्वाण पर अधिकसे अधिक गौरव देनेका अर्थ ही मूत रूपका सर्वथा निराकरण है। निर्वाण किसी भी प्रकारके भौतिक और अभौतिक सस्थानको सहन नहीं कर सकता। यह विचारधारा पूरे जोरके साथ आरम्भिक बौद्धधर्मको प्रेरित कर रही थी। इसी कारण हम देख सकते हैं कि लगभग तीन शताब्दियों तक कलाका निर्माण करते रहने पर भी शिल्पियोंको बुद्धकी मूर्ति बनानेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। उस युगकी मूल धार्मिक प्रवृत्ति इसके विपरीत थी। बुद्धको मूर्तरूपमे अंकित करनेके लिये उस समयके बौद्धोंके धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोणमें भौतिक परिवर्तनकी आवश्यकता थी।

बुद्धमूर्तिका निर्माण पहले मथुरामें हुआ था या गान्धारमें, इस प्रश्नको लेकर विद्वानोंमे गहरा मतभेद है। बहुधा यूरोपीय विद्वान् इस पक्षमे हैं कि यूनानी-कलाके प्रभावसे गाधार-कलामें पहलेपहल बुद्ध-प्रतिमाका आविष्कार किया गया, उसीकी देखादेखी मथुराके शिल्पियोंने भी बुद्धकी मूर्ति घड डाली। भारतीय विद्वान्, जिनमे श्री कुमारस्वामी अग्रणी हैं, बुद्धमूर्तिकी सर्वप्रथम रचना मथुरामे मानते हैं।[1] उनके अनुसार मथुराकी कलामे बुद्धमूर्त्तिको बनानेके सारे तत्त्व वर्तमान थे। वस्तुत प्रश्न गान्धार के शिल्पियोंकी सामर्थ्य और मथुराके शिल्पियोंकी असामर्थ्यका नहीं है, जैसाकि फूशे मानते हैं। मथुराके शिल्पी अच्छीसे अच्छी यक्षमूर्ति बना ही रहे थे, तब बुद्धमूर्ति बनानेमे उनकी अयोग्यताकी दलीलमें क्या सार है? असली बात यह है कि जबतक बौद्धधर्मकी ऊपर कही हुई मूल विचारधारामे क्रान्तिकारी परिवर्तन पूरा न हो लेता तबतक बुद्धके अनुयायी किसी प्रकार मूर्तिका स्वागत करनेके लिये तैयार न थे। अगर गान्धारके कुछ शिल्पी बुद्धकी प्रतिमा बना भी लेते तो भी मथुराके कलाकार उसका ग्रहण कभी न करते,

---

१ आ० द कुमारस्वामी दी ओरिजन ऑफ् दि बुद्ध इमेज आर्ट बुलेटिन (१९२७), ९१, २८७ ३१७, चित्र १६७।

यदि मथुराके बौद्धोंके हृदयोंमें उसके लिये धर्मानुमोदित स्वागतकी भावना उत्पन्न न हुई होती। हीनयानकी निर्वाणप्रधान विचारपद्धतिमें सर्वप्रथम मौलिक क्रान्तिकी आवश्यकता थी, जिससे बुद्धकी मूर्तिको अंगीकार किया जा सके।

विचारोंके इस परिवर्तनका श्रेय भागवतधर्मको है, जिसका अशोक-मौर्यके बाद प्रतिक्रिया रूपमें दूसरी-पहली शती ई. पूर्वमें प्रचार हुआ। शुंगोंके राज्यकालमें उत्तरी भारतमें वैदिक यज्ञप्रधान कर्मकाण्डने भागवतधर्मके साथ मिलकर हिन्दूधर्मका एक नया लोकग्राही रूप सामने रखा। स्वयं पुष्यमित्रने अश्वमेध यज्ञ किया था और उसीके समयमें पतंजलिने महाभाष्यमें कृष्ण और संकर्षण (बलराम)का उल्लेख किया है—'संकर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्धताम्।' अर्थात् संकर्षणके साथ कृष्णके बलकी वृद्धि हो। पतंजलिने यह भी लिखा है कि कंसवध नाटकका अभिनय उनके समयमें होता था। केशव और रामके मन्दिरोंका भी भाष्यमें उल्लेख है। नगरी (प्राचीन माध्यमिका)से मिले हुए लेखसे (जिसकी एक प्रति घोसूंडी गाँवमें भी मिली थी) अश्वमेधयाजी भागवत राजा सर्वतातके द्वारा स्थापित संकर्षण और वासुदेवकी 'पूजाशिलाप्राकार' (पूजास्थानके चारों ओर बनी हुई पत्थरकी वेदिका) और नारायणवाटिकाका स्पष्ट उल्लेख है।[1] बेसनगरमें महाराज भागभद्रकी सभामें समागत यवनदूत भागवत हेलिओदोरने वासुदेवके प्रासादोत्तमके सम्मुख एक गरुडध्वज स्थापित किया। भेलसासे प्राप्त एक दूसरे लेखमें महाराज भागवतके बारहवें वर्षमें भगवानके प्रासादोत्तममें गरुडध्वजकी स्थापनाका वर्णन है। मथुराके एक तोरण पर उत्कीर्ण लेखमें महाक्षत्रप शोडासके समयमें भगवान् वासुदेवके महास्थानमें तोरण, वेदिका और चतुःशाला (या देवकुल) की स्थापनाका उल्लेख है। शोडासके समयमें ही मोरा नामक गाँवसे मिले एक लेखमें पाँच वृष्णिवीरोंकी एक

---

१. 'कारितो य राज्ञा भागवतेन गजायनेन पराशरीपुत्रेण सर्वतातेन अश्वमेधयाजिना भगवद्भ्यां संकर्षणवासुदेवाभ्यामनिहताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिलाप्राकारो नारायणवाटिका...।'

मंदिर (शैलदेवगृह)मे स्थापनाका वर्णन है। सौभाग्यसे वृष्णिवीरों-की पाँच प्रतिमाओंमेसे तीन खडित प्रतिमाएँ भी मिली है। यह सब प्रमाणसामग्री प्रथम शती ई पूर्वकी है। इससे इन प्रदेशोंमें भागवत-धर्मके लोकव्यापी आन्दोलनके रूपमे फैलनेकी बात ज्ञात होती है। भक्तिका आदर्श लोकसग्रहकी भावनाके साथ मिलकर जगतमें एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न कर रहा था। इस विचारधाराने जनताको दूर तक प्रभावित किया। आनेवाले युगका धर्म व्यक्तिगत देवतामें केन्द्रित भक्तिके रूपमे परिणत हुआ। परन्तु यह भक्ति अपने आपको देवतामें लीन करके केवल अपने लिये मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय न था, यह एक सामूहिक कल्याणका धर्म था, जिसके मूलमें कर्म और लोकसग्रहकी भावना बहुत प्रबल थी। इस दृष्टिकोणका प्रभाव देशके सब सम्प्रदायों और धर्मों पर पडा। बुद्धके प्राचीन धर्म पर इस भावनाका सबसे अधिक प्रभाव पडा, जो प्रथम शती ई में महायान सम्प्रदायके रूपमें प्रकट हुआ। महायानधर्म भागवत-धर्मका बौद्ध रूपान्तर कहा जा सकता है। गृहस्थ-आश्रमकी महत्ता, व्यक्तिगत कल्याणकी अपेक्षा सामूहिक लोकहित या सर्वजनहितकी भावना एव भक्ति—इन दोनों धर्मो की सामान्य विशेषताएँ थीं। इस क्रान्तिमे बौद्धोंके सम्प्रदायने आगे बढकर भाग लिया। महायानका दृष्टिकोण व्यक्तिनिर्वाणसे हटकर 'सर्व सत्त्वोंके हित-सुख' (सब जीवोंके कल्याण) पर केन्द्रित हुआ।

सर्वसत्त्वाना हितसुखाय, सर्वसत्त्वाना हितसुखार्थम्—यह वाक्य बहुधा कुषाणकालीन बुद्ध-मूर्तियोंकी चौकी पर खुदा हुआ मिलता है। समाजके हितकी भावना ज्ञानप्रधान निर्वाणधर्मसे तृप्त न होकर भक्तिप्रधान धर्मकी ओर प्रवृत्त हुई। बुद्धके जिस भौतिक शरीरको लोग सदाके लिये नितान्त असुलभ और कल्पनासे बाहर समझते थे उसके दर्शनकी उन्हें हर समय आवश्यकता जान पडने लगी। निर्वाणका मार्ग जीवनको रीता बना देना चाहता है, सामाजिक कल्याणका मार्ग मानवी-जीवनको चारो ओरसे भरापूरा

देखना चाहता है। समृद्ध जीवनकी खोजमें बुद्धका अपना जीवन ही लोगोंको सबसे बड़ा आदर्श जान पड़ा। जनताकी दृष्टिमें बुद्धका जन्म, कुल, शरीर, अलंकरण, वेष-मुद्रा सब लोकोत्तर सौन्दर्य और आकर्षणसे भरे हुए दिखाई दिये। बुद्धके सारे निर्गुण विचारोंका सगुण प्रतीक उनका अपना शरीर ही तो था। बुद्धका वह भौतिक स्वरूप नाश या निराकरणके लिये न था; वह तो सान्निध्य, साक्षात्कार और स्वागतकी वस्तु थी। जनताके मनका सामाजिक आदर्श बुद्धके प्रत्यक्ष जीवनमें केन्द्रित हुआ। व्यक्तिके लौकिक जीवनका प्रतिमान बुद्धका जीवन बना और बुद्धके जीवनके प्रति लोकका मानस नये उत्साह और उमंगसे उमड़ पड़ा। सम्राट् कनिष्कके समकालीन महाकवि अश्वघोषका बुद्धचरित उसी सार्वजनिक माँगकी साहित्यिक पूर्ति थी। कनिष्कके ही समयमें निर्मित बुद्धकी पाषाणमूर्ति उसी माँगका कलात्मक उत्तर हुआ। अश्वघोषका काव्य ठेठ भारतीय है, उसके सारे उपकरण इसी देशके हैं और वे जनताके जाने-पहचाने हुए थे। बुद्धकी मूर्ति भी ठेठ भारतीय थी। जब हम बुद्धमूर्तिके उपकरणोंको देखते हैं तो उनकी भारतीयता स्पष्ट हो जाती है। ठीक इसी प्रकार पद्मासन, ध्यानमुद्रा या अभयमुद्रा, नासाग्र दृष्टि, योगीकी प्रशान्त मुखमुद्रा, भृकुटिके बीचका मध्यबिन्दु या ऊर्णा, उष्णीष, एकांसिक उत्तरीय, हाथ-पैरोंमें अंकित महापुरुषके लक्षण—कुषाणकालीन बुद्धमूर्तिके ये ही मुख्य उपकरण हैं और इनमेंसे किसी भी अंशको हम विदेशी नहीं कह सकते। इनमेंसे प्रत्येककी परम्परा भारतीय है। अश्वघोष ने बुद्धका वर्णन करते हुए लिखा है—

'महर्षि असितने धात्रीकी गोदमें आश्चर्यचकित होकर बालक बुद्धके दर्शन किए। उनके पैरोंके तलवों पर चक्रका चिह्न था। हाथ और पैरकी अँगुलियाँ त्वचासे जुड़ी हुई थीं। भौंहोंके बीचमें रोंएका आवर्त या ऊर्णाका निशान था। उनके वृषण-कोश हाथीकी तरह गुप्त थे।'[1] कुषाणकालसे पहलेके बौद्ध या संस्कृत

---

[1] चक्रांकपादं स तथा महर्षिर्जालावनद्धांगुलिपाणिपादम्।
सोर्णाभ्रुवं वारणवस्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं ददर्श॥ —बुद्धचरित १।६५

साहित्यमे भी इन नपकरणोंका अस्तित्व प्राप्त होता है। बुद्ध योगी थे, बोधगयामे समाधि और ध्यानके द्वारा उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया था। योगी बुद्धकी मूर्तिकी कल्पना विदेशी परिभाषाओंकी सहायतासे बनना सम्भव ही नहीं है। प्रथम शती ई पूर्वकी धार्मिक पृष्ठभूमि और बुद्धमूर्तिके उपकरण गेनो इसी बातका सकेत करते हैं कि बुद्धमूर्ति भारतीय धार्मिक विकासकी स्वाभाविक देन है, वह विदेशी यूनानी विचारधारा या कलासे प्राप्त कोई आकस्मिक घटना नहीं है।

गान्धार-कलामे जो उपलब्ध सामग्री है उससे भी इस प्रश्न पर सचाईके साथ विचार करनेमे सहायता मिलती है। इस प्रकारके विवादमे पुरातत्त्वकी साक्षी वस्तुस्थितिको निश्चित करनेका सबसे प्रबल साधन मानना चाहिए। गाधार-कलामे अभी तक एक भी बुद्धकी मूर्ति ऐसी नहीं मिली जिसे हम निश्चयके साथ कुषाणोंसे पूर्वकी कह सकें। प्रथम तो गाधार-कलाकी बुद्धमूर्तियोंमे निश्चित सवत् या तिथिमे उत्कीर्ण मूर्तियोंकी सख्या बहुत ही कम है। श्री स्टेन कोनोके खरोष्ठी लेखसग्रहमे केवल तीन मूर्तियों या उनकी चौकियों पर सवत् पाए गए हैं सवत ३५८ (लेख स ४०), स ३८४ (लेख स ५३), और स ३५५ (लेख स ६०)।

यह गणना पुराने शक सवतके अनुसार मानी गई है, जिसका आरम्भ डॉ स्टेन कोनोके मतानुसार ई पूर्व ८८के लगभग हुआ। इस प्रकार ये मूर्तियाँ तीसरी-चौथी शताब्दी ई की हैं और इनसे गान्धार-मूर्तिके पौर्वापर्यका निर्णय करनेमे हमे कुछ भी सहायता नहीं मिलती। स्टेन कोनोने इस प्रश्न पर पूरी तरह विचार करते हुए लिखा है कि गान्धार-कलामे सवत्-युक्तवाली बुद्धकी मूर्तियाँ बहुत बादकी हैं। टार्नके अनुसार गन्धारकी कला-शैली कुषाणोंके बाद शुरू होती है।[1]

---

1 All dated statues of Buddha are very late in Gandhara Gandhara school begins after the Kushan period —Tarn Greeks in Bactria and India, P 399

कॉडरिंग्टनका मत है कि फूशेके तिथिक्रममें एक भी तारीख दृढ़ रूपसे निश्चित नहीं है और इसलिए कि हम बुद्धमूर्तिको गन्धारसे आ गई हुई कह सकें, स्वयं गांधार-कलाको मथुरासे पहिले माननेका कोई भी कारण नहीं है।[1]

हर्ज़फील्डके मतानुसार भी गान्धार-कलाके अवशेष वाल्हीकके यूनानी राजाओंसे कई शताब्दी बादके हैं।[2]

कलाकी शैलीकी दृष्टिसे मथुरा-कलामें जो श्री या सौन्दर्य है वैसी उत्कृष्ट शोभाका गन्धार-कृतियोंमें नितान्त अभाव है। गांधार-कला भारतीय कलाका श्रीहीन रूप जान पड़ती है। मथुराकी स्मितवदन कुषाणकालीन बोधिसत्त्वमूर्ति (मथुरा संग्रहालय-ए १)की तुलनामें एक भी मूर्ति गान्धारशैलीमें नहीं मिलती। मथुराकी वेदिकाओं पर जो शालभंजिका रूपमें स्त्रियोंकी विविध मूर्तियाँ हैं, गांधार-कलामें उसी मुद्राकी स्त्री-मूर्तियाँ नौसिखियोंकी रचनाएँ जान पड़ती हैं। विविधता, मौलिकता और रूपविधानकी दृष्टिसे मथुराको कुबेरका कोष कहें, तो गान्धार-कला रंकके भंडार-सी लगती है। मथुराका शिल्प-सौन्दर्य उसकी निजी विशेषता है। साँची-भरहुतकी प्राचीन शालभंजिका-मूर्तियोंमें जो शोभाका अमित भंडार और शृंगारप्रधान लीलाओंका अंकन है, वही नये सौष्ठवसे परिष्कृत होकर मथुराकी वेदिका-स्त्रियोंमें प्रकट हुआ है। अशोकपुष्पप्रचायिका आदि क्रीडाओंके विषय भी दोनोंमें एक-जैसे हैं। तात्पर्य यह है कि विषय और शैली दोनों दृष्टियोंसे मथुराका कुषाण-शिल्प मुख्यतः भारतीय है और वह अपनी निजी विकासकी धाराके सर्वथा अनुकूल है।

---

1. Foucher's chronology does not contain a single fixed point and there is no reason to antedate Gandhara art in order to provide a borrowed origin for the Buddha image —Tarn, ibid., p. 398.

2. Herzfeld has put the Gandhara monuments later of many centuries than the Graeco-Bactrian empire.—Tarn, p. 399.

जबकि गंधारमें मिली हुई बुद्धकी मूर्तियों पर उत्कीर्ण तिथियोंसे हम उनकी प्राचीनता नहीं सिद्ध कर पाते, मथुरासे प्राप्त बुद्ध और बोधिसत्त्वकी मूर्तियाँ इस विषयमें निश्चित प्रमाण उपस्थित करती हैं। मटियाली चित्तियोंवाले लाल पत्थरकी बनी हुई मथुरा-शैलीकी मूर्तियाँ मथुरासे बाहिर कौशाम्बी, श्रावस्ती, सारनाथ और साँची तकसे मिली हैं। सारनाथकी खुदी हुई बुद्ध-मूर्ति कनिष्कके राज्यकालके तीसरे वर्षमें मथुराके त्रिपिटकाचार्य भिक्षुबलके द्वारा स्थापित की गई थी। स्वयं मथुरामें कनिष्क और हुविष्कके राज्यकालकी बहुत-सी मूर्तियाँ मिली हैं। इनसे निश्चय है कि कनिष्कका राज्यकाल जैसे ही प्रारम्भ हुआ बुद्धकी मूर्तियाँ मथुरामें बननी प्रारम्भ हो गई थीं। कनिष्कके पूर्वकालकी सन्-सम्वत्के साथ उत्कीर्ण कोई बुद्धमूर्ति अबतक नहीं पाई गई। अतएव प्रामाणिक रीतिसे कोई यह नहीं कह सकता कि मथुराकी बुद्धप्रतिमाका प्रादुर्भाव कनिष्कसे पहिले हो चुका था। कनिष्कके एक सिक्के पर बुद्धकी मूर्ति पाई गई है। कनिष्कसे पहिले राजा वेमतक्षम थे, जिनकी बैठी हुई एक बड़ी प्रतिमा मथुरासे मिली है। उनके एक सिक्के पर भी बुद्धकी आकृति बताई जाती है, किन्तु अभी तक कोई सिक्का इतनी अच्छी हालतमें नहीं मिला जिससे इस बातको पक्के रूपसे मान लिया जाय। स्वयं सम्राट् वेमतक्षम शैव था। सिक्कों पर बड़े गर्वसे उसने अपने लिये 'माहेश्वर' विरुदका प्रयोग किया है।[१] उसका एक भी सिक्का ऐसा नहीं है जिसके पटदांव (पीछेकी ओर) शिव अथवा नन्दीकी मूर्ति न बनी हो। इस बातसे यह तो निश्चित रूपमें प्रकट होता है कि कनिष्कसे पहिले ही शकोंका हिन्दूधर्मके साथ बहुत घनिष्ठ परिचय हो चुका था और उन्होंने हिन्दूधर्मकी पूजापद्धति और देवताओंको अपना लिया था। ऐसी स्थितिमें भागवतधर्मके द्वारा जिस भक्तिप्रधान

१ वेमतक्षमकी मुद्रा पर पूरा खरोष्ठी लेख इस प्रकार है—'महरजस रजधिरजस सर्वलोगइश्वरस माहिश्वरस विमकठफिशस त्रदर।'

साथ मूर्तियोंका निर्माण होने लगा, पहिली मूर्तियाँ इसी कलाशैलीमे बनाई गई। इन मूर्तियोंका ऊँचा कद और भारी डीलडौल, दाहिना हाथ चमर या फूल लिये हुए या अभयमुद्रामे और बायाँ हाथ लताहस्त मुद्रामे शरीरके साथ लटकता हुआ या कटिन्यिस्त मुद्रामे कमर पर रखा हुआ, कानोंमे भारी कुण्डल, गलेम कण्ठा और तिखूटा चपटा हार, हाथोंमे कडे या कगन, कन्धे पर उत्तरीय और नीचे धोतीकी वेषभूषा—ये सब लक्षण पूरी तरह मथुराकी खडी हुई बुद्धमूर्तियोंमे घटित होते हैं। सारनाथसे मिली हुई बोधिसत्त्वकी मूर्ति मथुराकी परखम-यक्ष मूर्तिकी कलाशैलीको व्यक्त करती है। दोनोंकी अनुहार एक है और इसमे तनिक भी सदेह नहीं कि मथुराकी खडी हुई प्रथम बोधिसत्त्वकी मूर्ति परखम-यक्षके उत्तराधिकारको ही प्रकट करती है। दोनोंमे एक जैसा डीलडौल और उद्दाम शक्तिका प्रदर्शन है। शैलीकी दृष्टिसे परखम-यक्ष और सारनाथ बोधिसत्त्वका जुडा हुआ सूत्र बुद्धमूर्तिके प्रथम विकासकी पूरी व्याख्या कर देता है। इस सूत्रमे, श्री कुमारस्वामीके मतानुसार, रत्तीभर भी विदेशी प्रभावकी सम्भावना या उसके लिये स्थान नहीं है।[1]

मथुरा-शैलीकी दूसरे प्रकारकी बुद्धमूर्तियाँ बोधिवृक्षके नीचे पद्मासनमे बैठी हुई हैं। इनमें सबसे उत्कृष्ट बोधिसत्त्वकी एक मूर्ति है, जो कटरा केशवदेवसे मिली थी (मथुरा सग्रहालय ए-१)। उसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं —

(१) बुद्ध सिंहासन पर बैठे हैं।

(२) उनके दोनों पैर पलौथी लगाए हुए पद्मासनमुद्रामे हैं।

(३) दाहिना हाथ अभयमुद्रामे है और बायाँ हाथ घुटनेके पास रखा हुआ है।

---

1 'In such a series the relationship are very evident and there is no room for the insertion of any Hellenistic type (Coomarswamy *Yakshis*, p 30

(४) हथेली और तलुओं पर चिह्न और धर्मचक्र आदि महा-
पुरुषके लक्षण बने हुए हैं।

(५) शरीर पर कोई आभूषण नहीं है।

(६) बायें कन्धे पर सलवटदार उत्तरीय पड़ा हुआ है और नीचे धोती
पहिने है। छाती पर वस्त्रान्तसूचक गलेपर्यन्तके टाँकी रेखाएँ हैं।

(७) मस्तक पर उठा हुआ उष्णीष है, जो केशोंसे ढका है।

(८) बाकी सिरका हिस्सा सपाट है; माथे पर बालोंको सूचित
करनेवाली केवल एक रेखा है।

(९) भौंहोंके बीचमें ऊर्णाबिन्दु है।

(१०) सिरके पीछे गोल प्रभामण्डल है, जो बिल्कुल सादा है।
उसके चारों ओर कटावदार चूड़ीको या बंगरीदार किनारी है।[1]

(११) मूर्तिके पीछे पीपलके पत्ते और शाखाएँ अंकित हैं। इसका
अभिप्राय यह है कि बुद्धको बोधिवृक्षके नीचे बैठा हुआ
दिखाया गया है।

(१२) बुद्धके दाईं-बाईं ओर एक-एक पार्श्वचर है, जो चँवर लिये
हैं। पार्श्वचरोंका वेष साधारण गृहस्थों जैसा है। वे मुकुट,
कुण्डल, हार, कड़े, उत्तरीय एवं धोती पहिने हुए हैं। न तो
उन्हें इन्द्र और ब्रह्मा कह सकते हैं और न मैत्रेय तथा
अवलोकितेश्वर। इस प्रकारके गृहस्थ-वेषधारी पार्श्वचर इन
प्रारम्भिक मूर्तियोंमें पाए जाते हैं।

(१३) मूर्तिके ऊपरके कोनोंमें दिव्य पुष्पवृष्टि करते हुए दो व्योम-
चारी देव हैं।

(१४) मूर्तिकी मुखमुद्रा भावपूर्ण है। उसकी मन्द मुस्कान आन्तरिक
शान्तिको प्रकट करती है, किन्तु यह आध्यात्मिक शान्ति
बाह्य जगतसे पराङ्मुख नहीं है। यह मूर्ति इस कारणसे
अपने समयकी ठीक उपज है और महायानके धार्मिक और
सामाजिक दृष्टिकोणको प्रकट करती है।

---

१. अंग्रेजी Scallaped border, अथवा चूड़ियोंकी बेल (बंगरी=चूड़ी)।

उपर्युक्त परिभाषाओंके अनुसार बनी हुई यह बुद्धमूर्ति ठेठ भारतीय शैलीमें है और मथुराकी अत्यन्त प्राचीन मूर्तियोंमें है। डॉ० वोगलके अनुसार यह मूर्ति कुषाण-कालके आरम्भिक कालकी है। इस मूर्तिकी चौकी पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है —

(१) बुद्धरखितस मातरे अमोहा आसिये बोधिसचो पतिठापितो।

(२) साहा मातापितिहि सर्वे विहारे

(३) सव सत्वाना हितसुखाये

अर्थात् बुद्धरक्षितकी माता अमोहा ऋषिकाने माता-पिताके साथ अपने विहारमें सब सत्त्वोंके सुखके लिये बोधिसत्त्वकी स्थापना की।

बुद्ध और बोधिसत्त्व

उपर्युक्त कटराकी मूर्तिके मुकाबिलेमें आन्यौर गाँवसे मिली वैसी ही दूसरी मूर्तिके लेखमें उसे बुद्धकी मूर्ति कहा गया है। मूर्तिकलाकी दृष्टिसे बुद्ध और बोधिसत्त्वके चित्रणमें अन्तर है। बोधि प्राप्त करनेसे पहिले गौतम बुद्धकी संज्ञा बोधिसत्त्व है, अर्थात् वे बोधि प्राप्त करनेके मार्गमें बढ़ रहे हैं। बोधि या ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद वे बुद्ध कहलाते हैं। बोधिसत्त्वकी मूर्तियाँ राजकुमारोंकी तरह मुकुट और आभूषण पहिने रहती हैं, परन्तु बुद्धकी मूर्तियाँ सादे वेषमें चीवर पहिने दिखाई जाती हैं। वस्तुतः मूर्तियोंमें यह भेद कुछ काल पश्चात् उत्पन्न हुआ होगा, शुरूमें जनताका ध्यान मूर्ति द्वारा गौतम बुद्धकी वास्तविक प्रतिकृति प्रकट करनेकी ओर था। अतएव बोधिसत्त्वकी मूर्तियोंमें भी गौतम बुद्धको आभूषणोंसे रहित दिखाया गया था, क्योंकि बुद्धगयामें बोधि प्राप्त करनेके पहिले ही जब गौतम बुद्धने घरबारसे विदा ली तभी वे अपना राजसी वेष छोड़ चुके थे। सन्यासीका वेष ही गौतमके लिये उपयुक्त वेष था। मथुरा-कलाके आरम्भमें बुद्ध और बोधिसत्त्वका भेद निराभरण और साभरण मूर्तिका भेद नहीं है। केवल चौकी पर खुदे हुए लेख बताते हैं कि मूर्ति बुद्धकी है या बोधिसत्त्वकी।

सारनाथमें प्राप्त भिक्षुबलकी मूर्ति सादा वेषमें है, पर वह बुद्ध नहीं, बोधिसत्त्व कही गई है। इस प्रकारकी प्रतिमाओंमें बोधिवृक्षका चित्रण उन्हें गौतम बुद्धके जीवनकी एक वास्तविक घटनासे सम्बद्ध कर देता है। बुद्धके नामसे और बोधिसत्त्वके नामसे शिल्पीको गौतम बुद्धका ही चित्रण अभीष्ट था। अन्य अनेक बोधिसत्त्व और बुद्धोंके चित्रणकी परिपाटीका उदय गौतम बुद्धकी मूर्तिके कुछ काल बाद, सम्भवतः हुविष्कके राज्यकालमें, हुआ। यहाँ पर मथुराके संग्रहालयमें सुरक्षित एक खण्डित मूर्तिकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है, जो कटरा और आन्यौरके बोधिसत्त्वोंसे मिलती हुई है। चौकी पर खुदे हुए लेखसे ज्ञात होता है कि यह मूर्ति बोधिसत्त्वकी है और सर्वास्तिवादी सम्प्रदायके आचार्योंके लिये समर्पितकी गई थी। मूर्तिकी स्थापना किसी क्षत्रपके राज्यकालमें की गई थी, जिसका नाम अब खण्डित है। मूर्तिकी शैली बिलकुल आरम्भिक कालकी है और यदि इसमें शासकका काल मिल जाता तो यह इस गम्भीर प्रश्न पर बहुत कुछ प्रकाश डालती। पर इतना अवश्य सूचित होता है कि सर्वास्तिवादी बौद्ध आचार्योंकी प्रेरणासे ही कटरा बोधिसत्त्व-शैलीकी अभयमुद्रा और पद्मासनमें बैठी हुई मूर्तियाँ बनाई गई थीं।

मथुरामें कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं जिनमें पीपलका पेड़ मूर्तिके शिलापट्टके पीठ-पीछे चित्रित है। इस प्रकारके अंकनकी मूर्तियोंका दर्शन सम्मुख और पीठ-पीछे दोनों तरफ़से होता था और वे खुले हुए बोधिमण्ड पर रख कर पूजी जाती होंगी। इसी विशेषताको लिये हुए एक दूसरी मूर्ति है (मथुरा सं. ५१४), जिसमें गौतम बुद्धकी प्रतिकृतिके साथ उसका सादृश्य सूचित करनेका और भी अधिक प्रयत्न किया गया है। इसमें बुद्धकी संघाटी कथरीकी तरह वस्त्रखण्डोंको सीकर बनाई गई है। बौद्ध साहित्यमें गौतम बुद्धके वस्त्रकी उपमा मगधदेशमें फैले हुए धानके खेतोंसे दी गई है। जैसे एक बड़े चक्कके भीतर मेंड बँधे हुए अलग-अलग खेत और खेतोंमें क्यारियाँ होती हैं, उसी तरह लम्बे चौकोर पैवन्दोंको

१ महोली नागिनत्त (मथुरा संग्रहालय)

परखम यक्ष

(मथुरा संग्रहालय) पृ

२. कनिष्क
(मथुरा संग्रहालय)

४ कटरा बोधिसत्त्व (कुषाणकालीन मूर्ति) (मथुरा संग्रहालय) पृ २४

८. भिक्षु यशदिन्न द्वारा स्थापित बुद्धमूर्ति (गुप्तकालीन)
(मथुरा संग्रहालय) पृ. २९

जोटकर बुद्धका परिधान बनाया गया था (विनयपिटक ८ १२ १ महावग्ग)। इस साहित्यिक वर्णनसे लाभ उठाकर ऐसी मूर्ति बनानेकी कोशिश की गई जिसे देखते ही बुद्धरूपमें उसे पहचाने जानेमें किसीको सन्देह न रहे।

मथुरामें एक वर्ग ऐसी मूर्तियोंका है जो मुकुट, वस्त्र और आभूषणोंसे अलंकृत राजसी वेषमें है। ये खड़ी हुई और बैठी हुई दोनों मुद्राओंमें हैं। खेद है कि इस प्रकारकी मूर्तियों पर भी लेख नहीं हैं, जिससे कटरा-मूर्तिसे उनके पहिले या पीछे होनेका निश्चय किया जा सके। इनमेंसे खड़ी हुई मूर्तियोंकी वेषभूषा और सज्जा मथुराकी अन्य गृहस्थ-मूर्तियोंके जैसी है। बैठी हुई मूर्तियोंमें आभूषणोंका प्रयोग बहुत अधिक है। गलेमें मोतियोंकी माला, कण्ठा, हार, पदक और रक्षा-करण्डकोंसे युक्त रक्षासूत्र पहिने हुए हैं। अन्तिम विशेषता साधारणतया गन्धारकी मूर्तियोंमें पाई जाती है। मथुरा-कलामें इस प्रकारकी मूर्तियाँ सम्भवत बादको बनाई गईं, लेकिन उनके निश्चित तिथिक्रमके विषयमें लेखोंके अभावसे ठीक निर्णय सम्भव नहीं।

अन्य बुद्ध और बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ

मथुरा-कलामें बुद्धमूर्तिका चित्रण गौतम बुद्ध तक ही सीमित नहीं रहा। गौतम बुद्धकी मूर्तियोंके अतिरिक्त कुछ मूर्तियाँ दूसरे बुद्ध और बोधिसत्त्वोंकी भी हैं। बुद्धसे पूर्ववर्ती दूसरे बुद्धोंकी मान्यता पुरानी थी। राजा अशोकने कनकमुनि नामक एक पूर्व-बुद्धके स्तूपका जीर्णोद्धार कराया था, ऐसा उनके एक स्तूपलेखसे विदित होता है। बौद्धोंके अनुसार विपश्चित्, शिखी, विश्वभूत, ककुत्सध, कनकमुनि, काश्यप और शाक्यमुनि ये सात बुद्ध हुए हैं। आठवें अभी भविष्यमें जन्म लेंगे, जो इस समय बोधिसत्त्व मैत्रेयकी अवस्थामें हैं। काश्यप नामक छठवें बुद्धकी एक खड़ी हुई मूर्ति मथुराकी कुषाण-कलामें मिली है। सप्त बुद्धोंसे चित्रित कई शिला-पट्ट भी पाए गए हैं। मैत्रेय बोधिसत्त्वकी भी कई मूर्तियाँ मिली

हैं, जिनकी विशेष पहिचान यह है कि मैत्रेय एक हाथमें एक अमृतघट लिये रहते हैं (मथुरा सं. ए-८)। मथुराके लाल पत्थरकी बनी हुई एक कुषाणकालकी मूर्ति अहिच्छत्रासे प्राप्त हुई है। उसकी चौकी पर उत्कीर्ण लेखमें मूर्तिको मैत्रेय-प्रतिमा कहा गया है।

महायान बौद्ध धर्ममें अन्य अनेक प्रकारके बुद्ध और बोधिसत्त्वोंकी कल्पनाका विकास हुआ। इनमें पाँच बोधिसत्त्व और उनके उत्पादक पाँच ध्यानी बुद्ध मुख्य हैं। उनकी तालिका इस प्रकार है:—

ध्यानी बुद्ध	बोधिसत्त्व	मानुषी बुद्ध	मुद्रा	वाहन	स्कंधरूपमें और स्थान	वर्ग	मस्तक पर चिह्न
१. वैरोचन	सामंतभद्र	ककुच्छंद	धर्मचक्र	नाग	रूप, मध्य	कवर्ग	चक्र
२. अक्षोभ्य	वज्रपाणि	कनकमुनि	भूमिस्पर्श	हाथी	विज्ञान, पूर्व	चवर्ग	वज्र
३. रत्नसंभव	रत्नपाणि	काश्यप	वरद	सिंह	वेदना, दक्षिण	तवर्ग	रत्न
४. अमिताभ	पद्मपाणि या अवलोकितेश्वर	गौतम	समाधि	मयूर	संज्ञा, पश्चिम	टवर्ग	पद्म
५. अमोघसिद्धि	विश्वपाणि	मैत्रेय	अभय	गरुड़	संस्कार, उत्तर	पवर्ग	विश्वनक्र (दोहरा वज्र)

यह जटिल कल्पना हिन्दुओंके प्राचीन दार्शनिक मूलभूत पच तत्त्व, पच प्राण, पच विषय, पच इन्द्रियों आदि के साथ बौद्ध दर्शनका मेल मिलानेके लिये की गई। इसीके जोडकी कल्पना शैवामे भी विकसित हुई, जिसके अनुसार पचमुखी शिवकी मूर्तियोंका निर्माण हुआ। वे पचमुख क्रमश ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात कहलाते हैं। मथुरामे पचमुखी शिवकी कई मूर्तियाँ मिली हैं। वस्तुत इस पचात्मक मूर्तिभेदकी कल्पनाका प्रारम्भ भागवतोंके चतुर्व्यूह और वृष्णियोंके पचवीरोंकी कल्पनासे ज्ञात होता है। मथुराके मोरा शिलालेखमे, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, पाँच वृष्णि-वीरोंकी मूर्तियोंका स्पष्ट वर्णन है। चतुर्व्यूहमें भगवान् सकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्धकी गणना है। इनके साथ पाँचवें साम्ब को मिलाकर पच वृष्णिवीरोंकी कल्पना प्रथम शताब्दी ई पूर्वमे अस्तित्वमे आ चुकी थी। विष्णु, शिव और बुद्धके अनुयायी भक्त अपनी-अपनी मूर्तियों का चतुर्व्यूहात्मक या पचात्मक विभेद करते हुए एक ही मूल प्रवृत्ति या विचारधाराका अनुसरण कर रहे थे। वैष्णवोंमे जैसे चतुर्व्यूह है, शैवोंमे उसी प्रकार चतुर्मुखी शिवलिंग है। बौद्धोंके चतुर्बुद्धात्मक स्तूप, जिनमे स्तूपकी एक-एक दिशामे एक एक बुद्ध अकित किया गया है, उसी शैलीके हैं। उसी समय की मथुराकलामें जैनोंकी चौमुखी मूर्तियाँ मिली हैं, जिन्हें लेखोंमे प्रतिमा-सर्वतोभद्रिका कहा गया है। उनकी एक-एक दिशामें एक-एक तीर्थंकर अकित है। ये मूर्तियाँ भी उसी दार्शनिक दृष्टिकोणको प्रकट करती हैं। जान पड़ता है कि इस समस्त धार्मिक प्रपच के मूलमे एक तान्त्रिक दृष्टिकोण काम कर रहा था। मनुष्यका शरीर पचात्मक है। पाँच तत्त्वों या पचभूतोंके अनुसार शरीरके पाँच चक्र, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच विषय, पाँच प्राण काय करते हैं। पाँच चक्रों और सृष्टिके पच महाभूतोंके अनुसार देवताओंकी व्याख्या और वर्गीकरण धमका तान्त्रिक विकास है। उपलब्ध मूर्तियोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि कुषाणकालमे इस प्रकारका तान्त्रिक विवेचन बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव इन चारों सम्प्रदायोंमे विकसित हो चुका था।

मथुराकी गुप्त-कला

कुषाणकालमें मथुराकी शिल्पकला सब दिशाओंमें उन्नतिको प्राप्त हुई, किन्तु उसके बाद भी उसका प्रवाह आगे बढ़ा और गुप्तकालमें मथुराकी कला अपने उस श्रेष्ठ रूपमें विकसित हुई, जो उस स्वर्णयुगकी कलाकी देशव्यापी विशेषता थी।

कलाके साथ साहित्य और धर्म भी अपने निखरे हुए स्वच्छ और संस्कृत रूपमें उन्नतिको प्राप्त हुए। उस युगका आदर्श 'अनुत्तर ज्ञात' या 'अनुत्तर सम्यक्संबोधित'की प्राप्ति था, जिसके लिये सैकड़ों-सहस्रोंकी संख्यामें उच्च घरानेके नवयुवक अपने यौवन और धनका त्याग करके सामने आए। सद्धर्मपुंडरीकके[1] कुछ अवतरणोंमें उस युगकी आत्मा के हमें दर्शन होते हैं। प्रवरमहर्षि, परमार्थदर्शी, लोकविनायक भगवान् बुद्धने चारों ओर दृष्टि डालकर (समन्तचक्षु) लोकहितकी कामनासे (लोकहितानुकम्पी) कुलपुत्रोंका आवाहन किया—"धर्मप्रकाशनरूप दुष्कर कर्मके लिये कटिबद्ध हो जाओ। जिसके हृदयमें इस धर्मको प्रकाशित करने का संकल्प उत्पन्न हुआ हो, मैं उसका सिंहनाद सुनना चाहता हूँ। अखिन्न और अविश्रान्त भावसे जो इस व्रतको धारण करेगा, वह तथागतके पुत्रोंमें अगुआ (धुरावह) समझा जायगा। अनुत्तर सम्यक्संबोधिसे एक बार मन लगाकर फिर मैंने अपने मन को उधर से नहीं घुमाया। अतएव जो सच्चा शूर है वही इस कठिन कर्मको धारण करे।" व्यक्तिगत रूपमें परमोच्च ज्ञानकी प्राप्ति और सामाजिक क्षेत्रमें लोकहितके साधन—इन दोनोंने गुप्तकालीन बौद्धधर्मको विलक्षण सरसता प्रदान की। इसी प्रकार गुप्तकालमें भी दो तत्त्वोंका समन्वय हुआ—सौन्दर्य और अध्यात्म। बुद्धकी मूर्ति एक ओर सौन्दर्यकी

१—सद्धर्मपुण्डरीक, ११ ११—४०।

चिन्तेथ कुलपुत्राहो सर्वसत्त्वानुकम्पया।

सुदुष्करमिद स्थानमुत्सहन्ति विनायका.॥ सद्धर्म० ३१·२६

प्रतीक है और दूसरी ओर जिस व्यक्तिको सम्बन्धि सबोधि प्राप्त हुई है उसकी प्रशात मुखाकृतिको भी पूर्णतया व्यक्त करती है।

गुप्तकालकी बुद्ध-मूर्तियोंमे भिक्षु यशदिन्न द्वारा स्थापित खडी मूर्ति अत्यन्त सुन्दर और भव्य है। भारतवर्षकी चुनी हुई सुन्दर मूर्तियोंमे इसकी गणना है। बुद्धकी प्रशान्त मुखमुद्राके अकनमे शिल्पीको विशेष सफलता मिली है और हम प्रथम बार अनुत्तर ज्ञानप्राप्त अथवा सम्यक्‌सम्बुद्ध योगी बुद्धको कलामे प्रत्यक्ष देखते हैं।

बुद्धके दोनों कधो पर (उभयासिक) सघाटी पडी हुई है। उसके सूक्ष्म-विमल वस्त्रके भीतर से मेखला और शरीर झाँकता हुआ दिखाई पडता है। नासाग्र दृष्टि, जुडवाँ भोहें, लम्बे कर्ण-पाश, चौडा ललाट, कुचित केशासे ढका हुआ छत्राकार सिर—ये सब गुप्तकालीन कलाके स्पष्ट लक्षण हैं, जो इस मूर्तिकी विशेषता हैं। सिरके पीछे जो अलकृत प्रभामण्डल है उसके कारण मूर्ति और भी भव्य जँचती हें। रघुवशमे इस प्रकारके प्रभाचक्रके लिये 'पद्मातपत्र-छायामण्डल' शब्दका प्रयोग किया गया है, जैसा रघुके वर्णनमे कविने लिखा है—

छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्॥ (रघु० ४ ५)

'रघुके मस्तकके पीछे जो प्रभामण्डल था, उसमे उस कमलके छाते की परछाँई व्यक्त हो रही थी जिसे अदृश्य लक्ष्मीजी उसके ऊपर लगाए थीं।' गुप्तकालीन प्रभामण्डलको कालिदासने स्फुटत् प्रभामण्डल (कुमारसम्भव १ २४)भी कहा है।

कमलकी पखुडियाँ, फुल्लावली, पत्रलता और बीच बीचमे हस या मोर—इन अलकरणोंसे गुप्तकालीन प्रभामण्डल सजाए रहते हैं। कुषाणकालीन प्रभामण्डल बहुत सादा था, जिसके बाहिरी कोर पर एक धारीदार किनारी (स्कॅलप्ड बोडर) रहती थी। भिक्षु यशदिन्नकी यह बुद्धमूर्ति उस समयकी है, जबकि गुप्त कला अपने

सर्वोच्च रूपमें थी। पाँचवीं शताब्दीका पूर्वार्ध इसका समय ज्ञात होता है। इसके सौ वर्ष बादकी एक दूसरी बुद्धमूर्ति कटरा केशवदेवसे मिली थी, जिस पर गुप्त संवत् २३०का एक लेख उत्कीर्ण है। लेखके अनुसार भिक्षुणी जयभट्टाने यशाविहारमें इस मूर्तिकी स्थापना ५४९-५० ई.में की थी। मथुरामें बौद्धोंके अनेक विहार थे। शिला-लेखोंके आधार पर अब तक निम्नलिखित विहारोंके नाम मिल चुके हैं:—

(१) हुविष्क विहार। (२) स्वर्णकर विहार—जहाँके महोपदेशक आचार्य कुषाणकालमें प्रसिद्ध थे (मथुरा संग्रहालय सं. २६०)। (३) श्रीविहार—इसमें सम्मितीय सम्प्रदायके आचार्य रहते थे (मथुरा संग्रहालय सं. ४६२)। (४) चेतीय विहार—यह विहार धर्मगुप्तक (धर्मगुतिक) सम्प्रदायके आचार्योंका था। (५) चुतक विहार (मथुरा संग्रहालय सं. १३५०)—यह विहार महासांघिक बौद्ध सम्प्रदायके भिक्षुओंका था। (६) आपानिक विहार (मथुरा संग्रहालय सं. १६१२) —यह विहार भी महासांघिक सम्प्रदायके भिक्षुओंका था। महासंघीय विहारका एक केन्द्र मथुरामें था और दूसरा पालीखेड़ा गाँवमें, जैसाकि वहाँसे प्राप्त पत्थरकी कूंडी पर लिखे हुए लेखसे विदित होता है (मथुरा संग्रहालय सं. ६६२)। (७) मिहिर विहार—यह विहार सर्वास्तिवादी आचार्योंका था। इसकी एक शाखा कामवनमें थी, जैसा कि वहाँसे प्राप्त एक लेखसे ज्ञात होता है (ल्यूडर्स लेखसूची, सं. १२, एपिग्राफ़िया इण्डिका, भाग २, पृ. २१२)। मिहिर विहारका मुख्य केन्द्र मथुरामें था। अभी हालमें कंकाली-टीलेके कुँएसे प्राप्त कुबेर यक्षकी चौकी पर उत्कीर्ण लेखमें मिहिरगृहका उल्लेख पाया गया है, जहाँ वह मूर्ति पधराई गई थी। (८) गुहा विहार। (९) क्रौष्टकीय विहार। (१०) रोषिक विहार—मथुराकी एक बौद्ध-चौकी पर उत्कीर्ण लेखमें यह नाम आया है। वह मूर्ति इस समय बम्बईके संग्रहालयमें सुरक्षित है (जर्नल बी. बी. आर. ए. एस., भाग २०, पृ. २६९)। (११) ककाटिका विहार (ल्यूडर्स लेखसूची,

स १४०)। (१०) प्रावारिक विहार–इस विहारका एक केन्द्र कटरा केशवदेवमे था (मथुरा सग्रहालय स के टी १३०)। इसकी दूसरी शाखा गिरधरपुर गाँवमे थी (मथुरा सग्रहालय, सवत् १३१६, नागी प्रतिमा)। (१३) यशाविहार–यह विहार कटरा केशवदेवकी भूमि पर गुप्तकालमे विद्यमान था, जैसा कि ऊपर लिखे हुए भिक्षुणी जयभट्टाके लेख से ज्ञात होता है।

विहारोंकी इस सूचीसे हम इस बातका कुछ अनुमान कर सकते हैं कि मथुरामे धार्मिक जीवनकी हलचल कुषाण और गुप्तकालमे कितनी बढीचढी थी। प्रत्येक विहार शिक्षा और सस्कृतिका विशिष्ट केन्द्र था। बौद्ध कला, धर्म और सस्कृतिके अतिरिक्त जैनोंका भी मथुरामे इसी समय सबसे बडा केन्द्र था। इसके कारण मथुरा उत्तरीय भारतमे धर्म और सस्कृतिका सबसे बडा केन्द्र बन गया था।

मथुरा-कलामे बौद्ध, जैन और वैष्णव धर्मके देवताओंकी जो मूर्तियाँ बनाई गईं उनसे आगे आनेवाली एक सहस्राब्दीके लिये उन मूर्तियोंका रूप और आदर्श निर्धारित हो गया।

दूसरा व्याख्यान

स्तूप-वेदिका

प्राचीन भारतीय कलामें स्तूपोंका स्थान महत्त्वपूर्ण है। वैसे तो स्तूप शब्द वैदिक है और हिरण्यस्तूप आदि ऋषि-नामोंमें इसका प्रयोग हुआ है, किन्तु कलाके साथ सम्बन्धित होकर यह शब्द बौद्ध और जैन धर्मोंकी ही देन है। प्राचीन बौद्ध धर्ममें स्तूपका वर्णन बहुत आया है। किसी विशिष्ट व्यक्तिकी अस्थि आदि अवशेषों पर मिट्टी या ईंटका थूहा बनाकर लोकमें उसकी स्मृति सुरक्षित रखनेकी प्रथा थी। अवशेषोंको धातु और इस प्रकारके स्तूपोंको धातुगर्भित स्तूप कहा गया है। कुछ स्तूप बहुत विशाल और कुछ छोटे होते थे। बड़े स्तूपोंको बौद्ध संस्कृत साहित्यमें महेशाख्य और छोटे स्तूपोंको अल्पेशाख्य स्तूप कहा गया है (दिव्यावदान, पृ. २४३-४४)। मूलमें जो स्तूप मिट्टीके थूहेके रूपमें थे, कालान्तरमें बहुधा उन पर पक्की ईंटों का आवरण चढ़ाकर अथवा पत्थर की पटियाँ मढ़वाकर उनका नए रूपमें संस्कार कराया गया। भारतवर्षमें मिट्टी, ईंट और पत्थर तीनों तरहके स्तूप पाए गए हैं।

बौद्धधर्मके साथ स्तूपोंका विशेष सम्बन्ध है। जिस समय कुशीनगरके शालवनमें बुद्धका परिनिर्वाण हुआ, उनके शवको चन्दनकी चिता पर जलाया गया। चितामें से उनके फूल चुने जाने के बाद उनके स्वामित्वका प्रश्न उत्पन्न हुआ तो मगधराज अजातशत्रु, वैशालीके लिच्छवि, कपिलवस्तुके शाक्य, अलकप्पके बुलि, रामग्रामके कोलिय, द्वीपके ब्राह्मण, पावाके मल्ल और कुशीनाराके मल्ल इन आठों को अपने लिये अस्थि माँगने पर आपसमें युद्ध ठननेकी परिस्थिति उत्पन्न हो गई। शाक्योंका कहना था कि बुद्ध उनकी जातिके थे। मल्लोंका पक्ष था कि बुद्ध उनके यहाँ निर्वाणको प्राप्त

हुए थे। इस खींचातानीमें दोनोंकी दुराग्रहपूर्ण मूर्खताको देखकर द्रोण नामके एक समझदार ब्राह्मणने कहा कि भगवान् बुद्ध क्षमावादी थे। यह उचित नहीं कि उनकी अस्थियोंके लिये लड़ा जाय। अतएव उनके आठ भाग करके बाँट लो और उन पर स्तूपोंकी रचना कराओ। लोग मान गए और तब उस ब्राह्मणने पचनिर्णयकी रीतिसे बुद्धकी अस्थियोंके आठ भाग किये, जिन पर यथास्थान आठ शरीर-स्तूप बनवाए गए। द्रोणने फूल रखनेके तुम्बेको लेकर और पिप्पलिवनके मोरियोंने चिताके अगारे लेकर क्रमश तुम्बस्तूप और अगारस्तूप बनवाए (महापरिनिब्बानसुत्त)। मूलमें बुद्धसे सम्बधित ये ही दस स्तूप थे।

तीसरी शताब्दी ई पू में अशोक बौद्धधर्ममें दीक्षित हुआ, तो उसने कई प्रकारसे बुद्धके प्रति अपनी भक्ति प्रकट करना चाही। प्रथम तो उसने बुद्धके जन्मस्थान लुम्बिनीकी यात्रा की और उस गाँवमें राजकरकी छूट दे दी। दूसरे, उसने बहुतसे नए स्तूपोंका निर्माण किया। कनकमुनिके प्राचीन स्तूपके जीर्णोद्धारका अशोकने स्वय अपने एक लेखमें वर्णन किया है। दिव्यावदानमें दी हुई बौद्ध अनुश्रुतिके अनुसार अशोकने मूल आठ स्तूपोंके अवशेषोंका विस्तार करके चौरासी हजार स्तूपोंका निर्माण कराया। सद्धर्मपुण्डरीकमें इस कर्मको 'शरीर वैस्तारिक' अर्थात् बुद्धकी मूल शारीरिक धातुओंका विस्तार करना कहा गया है (सद्धर्म० १ ८४)। स्तूप तीन प्रकारके थे —

१ शारीरिक—वे स्तूप जो बुद्धकी धातु रखे जानेके कारण धातुगर्भित भी कहलाते थे।

२ पारिभोगिक—वे स्तूप जो बुद्धके द्वारा प्रयुक्त वस्तुओं जैसे भिक्षापात्र, उष्णीष आदिको निमित्त मानकर बनाए गए थे।

३ उद्देशिक—वे स्तूप जो बुद्धको उद्दिष्ट करके उनकी स्मृतिरक्षाके लिये बनाए गए थे।

अशोकके बनाये हुए स्तूपोंमेंसे बुद्धको चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ्ने अपने भ्रमणमें देखा था। उसने लिखा है—

'मथुरामें अभी तक ऐसे स्तूप हैं जिनमें शाक्यमुनिके शिष्यों जैसे शारिपुत्र, मौद्गलायन, मैत्रायणीपुत्र पूर्ण, उपालि, राहुल, आनन्द और मंजुश्रीके पवित्र अवशिष्ट गर्भित हैं। वार्षिक उत्सवों पर भक्त लोग उन स्तूपोंके पास इकट्ठे होकर अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार भेंट-पूजा चढ़ाते हैं। अभिधर्मके अनुयायी शारिपुत्रके स्तूपको पूजते हैं। ध्यानके अभ्यासी मौद्गलायनको, सूत्रोंके भक्त मैत्रायणीपुत्रको, विनयका अध्ययन करनेवाले उपालिको पूजते हैं और भक्त स्त्रियाँ आनन्दको अपनी पूजा चढ़ाती हैं। जो अभी तक पूरी तरह दीक्षित नहीं हुए हैं वे राहुलको पूजते हैं, लेकिन महायानके अनुयायी सब बोधिसत्त्वोंके लिये अपनी पूजा अर्पित करते हैं।'

राहुलके स्तूपके सिवा अन्य छः स्तूपोंको ४०० ई.के लगभग चीनी यात्री फाहिआनने भी देखा था। अंगुत्तरनिकायके अनुसार शारिपुत्र महाप्राज्ञोंमें, मौद्गलायन ऋद्धिमन्तोंमें, मैत्रायणीपुत्र धम्म-कथिकोंमें, राहुल शिक्षमाणोंमें, आनन्द बहुश्रुतोंमें और उपालि विनय-धरोंमें सर्वश्रेष्ठ थे। इन्हींके प्राचीन स्तूप मथुरामें किसी समय बनाए गए होंगे। हो सकता है, अशोकके समयमें मथुरामें इन स्तूपोंकी नींव पड़ी हो। बहुत वर्षों बाद श्यूआन चुआङ्ने महायानधर्मके माननेवालोंको अलग-अलग स्तूपोंमें बोधिसत्त्वोंकी पूजा करते हुए देखा। यद्यपि इस प्रकारका एक भी स्तूप मथुरामें सुरक्षित नहीं बचा है, पर यह निश्चय है कि शुंगकालमें और कुषाणकालमें मथुरामें बौद्धोंके स्तूप अवश्य थे, जैसा कि स्तूपसम्बन्धी अवशिष्ट शिल्प-सामग्रीसे विदित होता है।

स्तूपसे सम्बन्धित शिल्पकी सामग्रीको समझनेके लिए स्तूपकी रचनाको जानना आवश्यक है। स्तूप वस्तुतः बीचके गृहका नाम था। स्तूपकी आकृति प्रायः अंडाकार होती थी। उस अंडाकृतिके ऊपरी सिरे पर एक यष्टि या लाट होती थी; उस यष्टिका निचला सिरा स्तूपमें गड़ा हुआ रहता था और ऊपरके सिरे पर क्रमशः तीन छत्र पिरोए हुए रहते थे। छत्र-यष्टिके चारों ओर

एक छोटा जगला, जिसका सस्कृत नाम वेदिका था, लगा रहता था। वेदिका, छत्रावली और यष्टि इन सवका सम्मिलित नाम हर्मिका था। हर्मिकास्थानमें देवताओंका निवास समझा जाता था। स्तूपके भीतर वह पिटारी या मजूपा रखी जाती थी, जिसमें शरीरके अवशेष या धातु सुरक्षित रहते थे। इस धातुगर्भ मजूपामे वुद्धकी पवित्र शरीरधातुके साथ कई प्रकारके रत्न और सोने, चाँदी और हाथी-दाँतके छोटे-छोटे फूल, जिन्हें रत्नपुष्प कहा गया है, रखे जाते थे। कभी कभी मूल धातु सोने, चाँदी, तावे और स्फटिककी वनाई हुई छोटी-वडी डिब्बियोंमें, जो एक-दूसरेके भीतर वन्द होती थीं, रखी जाती थी। वस्ती जिले के पिपरावा गाँवसे प्राप्त लगभग पाँचवीं शती ईस्वी पूर्वके स्तूपमे इस प्रकारके फूल और सोने, चाँदी, तावे एव स्फटिक के वहुमूल्य पात्र प्राप्त हुए हैं।

स्तूपके चारों ओर परिक्रमा करनेके लिये एक प्रदक्षिणा-पथ होता था। कभी कभी स्तूपके ऊँचे अडाकृति भागके विचले अशके चारों ओर भी प्रदक्षिणा-मार्गकी व्यवस्था की जाती थी। कुपाणकाल और उसके वादके स्तूप ऊँची कुर्सी पर वनाए जाने लगे, जिन्हें मेधि कहा गया है। दिव्यावदानमे तीन मेधियोंवाले स्तूपोंका वर्णन है, जो क्रमश एक दूसरेसे ऊँची होती थीं। लेकिन स्तूपका जो भाग कलाकी दृष्टिसे सबसे अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ वह उसकी चारदीवारी और उस चारदीवारीके वीचमे वने हुए चार फाटक थे। स्तूप का चतुर्दिक् वेष्टन करनेवाली चारदीवारी वेदिका कहलाती थी और चार दिशाओंकी ओर अभिमुख चार दरवाजे तोरणद्वार कहलाते थे। तोरण और वेदिकाका निर्माण पत्थरके खभों से होता था। तोरणमे मुख्य रूपसे दो खडे हुए खभे या तोरणस्तम्भ होते थे। कुछ ऊँचाई पर जाकर इन खम्भोमे ऊपर-नीचे तीन आडी सिरदलें या वँडेरिया लगाई जाती थीं। इन आडे छेकनोंके लिये भी सस्कृत और पालीमे तोरण शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, जिसके कारण पूरे दरवाजे को तोरणद्वार या केवल तोरण ही कहते हैं। तोरणकी सबसे

ऊपरली बँडेरी पर धर्मचक्र या त्रिरत्न आदि कोई विशिष्ट चिह्न लगाया जाता था। तोरणद्वारके खड़े खम्भे और सबसे निचली सिरदलको एक-दूसरेके साथ जकड़कर बाँध रखनेके लिये उनके दो बाहरी कोनेमें पत्थरकी कुनिया लगाई जाती थी। इन कुनियाको बहुत ही कलापूर्ण ढँगसे एक सुन्दर स्त्रीके रूपमें उकेरा जाता था, जिसे तोरणशालभंजिका कहते थे। यह संज्ञा प्राचीन काव्यमें प्रयुक्त हुई है (बुद्धचरित ५. ५२: रचिता तोरणशालभंजिकेव)। पेड़के नीचे डाल झुकाकर फूल चुनती हुई या खड़ी हुई स्त्रीके लिये शाल-भंजिका नाम पुराने बौद्ध और संस्कृत साहित्यमें पाया जाता है। कलाकी दृष्टिसे ये शालभंजिका मूर्तियां बहुत ही हृदयग्राही हैं। मथुरासे इस प्रकारकी कई तोरणशालभंजिकाओंकी मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जिनमें से कंकाली टीलेके जैन स्तूपसे प्राप्त दो शुंगकालीन मूर्तियां बहुत ही सुन्दर हैं।

स्तूपकी चारदीवारी या वेदिका खम्भोंको एक पंक्तिमें खड़ा करके बनाई जाती थी। खम्भोंको वेदिकास्तम्भ, थम्भ या थभ भी कहा गया है। प्रत्येक दो खड़े हुए खम्भोंके बीचमें ऊपर-नीचे तीन आड़े पत्थर पिरोये जाते थे। इन्हें प्राचीन कालमें 'सूची' कहा जाता था। आजकलकी भाषामें इसे तकिया कहते हैं, क्योंकि सूचीकी आकृति तकिये जैसी होती थी। खम्भे के नीचे एक पत्थरकी चौकी रहती थी। उसके ऊपर खंभेका निचला सिरा टिका रहता था। इसका नाम 'आलम्बनपिंडिका' था। खम्भोंके ऊपर एक मुँडेरी होती थी, जिसका संस्कृत नाम 'उष्णीष' था। खम्भे के ऊपरकी ओर एक छोटी चूल या चोटिया निकला रहता था, जो कि मुँडेरी या उष्णीषकी पेन्दीमें कटे हुए खांचे में फँस जाता था। इस प्रकार स्तम्भ, सूची और उष्णीषसे सुसज्जित वेदिका और उसके चोमुखी विशाल तोरणोंके कारण स्तूप का दर्शन बहुत ही सुन्दर और भव्य प्रतीत होता था।

आरम्भमें अंडाकृति स्तूप बिलकुल सादा था, उसमें शिल्प-कला के चित्रण के लिये अवसर न था। इसी कारण शिल्पियोंका

सारा ध्यान वेदिका और तोरणोंकी सजावट पर ही केन्द्रित था। उत्साही शिल्पियोंने बडी चतुराईसे वेदिका और तोरणों पर मिले हुए स्थानको अपनी कलाकी सुन्दर अभिव्यक्तिके लिये प्रयुक्त किया। भरहुत का स्तूप इस प्रकार के अलंकरणका सबसे अच्छा उदाहरण है। इसमे दो-प्रकारका कलामय चित्रण है एक अलंकरणप्रधान और दूसरा कथानकप्रधान। अलंकरण या सजावटके लिये जो अंकन बना हुआ है उसमे हमे प्राचीन भारतीय शिल्पमे प्रयुक्त होनेवाले विविध अभिप्रायों (मोटिफ)का भंडार-ही मिल जाता है। कहीं लहराती हुई कमलकी बेलोंकी सजावट है, कहीं उठती हुई पद्म लताएँ यक्षों के मुँह या नाभिसे निकलती हुई दिखाई गई है, कहीं अशोक, कदम्ब, शाल आदि वृक्षोंकी सुन्दर आकृतियोका दर्शन है। अनेक प्रकार की फूलपत्तियोंकी उकेरीसे वेदिकाओंमे विलक्षण सुन्दरता आ गई है, जिससे स्तूपोंकी कला सदा नवीनता लिये ज्ञान पडती है। इस प्रकार मनुष्यके लिये प्रकृतिका सान्निध्य प्राप्त करके भारतीय शिल्पियोंने समाजकी बड़ी सेवा की। काव्यके समान भारतीय शिल्पकी भी यह विशेषता असाधारण है। प्रकृतिचित्रणकी कृपासे प्राचीन भारतीय शिल्पकलामे अद्भुत प्राण और आकर्षण विद्यमान है। कमल, पुष्प और पत्रोंसे शोभायमान मेखलायुक्त पूर्णकलश, कमलके वनमे खडी हुई देवी पद्मश्री या श्री-लक्ष्मी बहुत सुन्दर अलंकरणोमे गिने जाने योग्य है। कमल भारतीय चित्रणकलाका शिरोमणि-अलंकरण है और उसका अंकन अनेक रूपोंमें किया गया है। प्राचीन स्तूप-वर्णनमे एक प्रकारकी वेदिकाका उल्लेख है, जिसका नाम पद्मवरवेदिका था। वेदिकामे उसके खभों पर, स्तम्भ-पार्श्वो मे, स्तम्भ-शीर्ष पर, सूचियों पर, पक्ष-स्तम्भों पर, और भी यथास्थान फलकों पर अनेक प्रकारके कमलोंकी आकृतिका चित्रण करके पद्मवरवेदिकाका निर्माण किया जाता था। अनेक प्रकार की पद्माकृतियों के लिये तत्कालीन शिल्पियोंकी परिभाषामे भिन्न-भिन्न नाम थे। पद्म, उत्पल, कुमुद, नलिन, सौगन्धिक, पुडरीक,

महापुंडरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र—ये दस प्रकारके कमल पद्मवरवेदिका पर चित्रित किये जाते थे। प्राचीन मथुरामें साँची-भरहुतके स्तूपोंके समकालीन ही लगभग दूसरी शताब्दी ई० पूर्वमें एक जैन स्तूप था। उसकी चारदीवारीकी उपलब्ध शिल्पसामग्रीसे हमें पद्मवरवेदिकाका आभास मिलता है। उस वेदिकाके खम्भों, आड़े पत्थरों और मुँड़ेरियों पर अनेक प्रकारके पद्म और पद्मलताओं की सजावट मिलती है। कमल, पूर्ण घट, श्री-लक्ष्मी के अतिरिक्त कल्पवृक्ष, स्वस्तिक, त्रिरत्न, धर्मचक्र एवं नानाविध पशु-पक्षियोंके अंकनसे भारतीय शिल्पकलाको रूपसम्पन्न किया गया है।

सजावट के लिये बनाए हुए अभिप्रायोंके अतिरिक्त स्तूपों पर बौद्धधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली जातककथाएँ भी अंकित की गई हैं। भगवान् बुद्धके पूर्वजन्मोंसे सम्बन्ध रखनेवाली लगभग साढ़े पाँच सौ कहानियोंका एक विशाल संग्रह जातकोंके नामसे पाली साहित्यमें सुरक्षित है। भरहुतके स्तूप पर जातककथाओंका चित्रण बहुतायतसे पाया गया है। कुछ तो जातकोंके आधार पर और कुछ सर्वास्तिवादी शाखाके विनयग्रन्थोंके आधार पर, जिसमें बौद्ध अवदानोंको विशेष महत्त्व दिया जाता था, मथुराकी शिल्पकलामें भी जातकों या अवदानोंका चित्रण बहुतायतसे पाया जाता है। मथुरासे प्राप्त कुछ महत्त्वपूर्ण जातकोंके नाम ये हैं—

१. शिवि जातक—यह कथा जातक और महाभारतकी एक प्रसिद्ध कहानी है। इसमें उशीनर देशके राजा शिविने अपने शरीरका माँस काटकर शरणमें आये हुए एक कबूतरकी प्राणरक्षाके लिये दे दिया था। जातकके चित्रणमें राजा अपनी जाँघका माँस काटकर तराज़ूके दूसरे पलड़ेमें बैठे हुए कबूतरके बराबर तौल रहा है।

२. व्याघ्री जातक—इस कहानीमें भगवान् बुद्ध एक भूखी बाघिनके प्राण बचानेके लिये अपने शरीरको मांसपिंडकी तरह उसके आगे डालकर अपनी अनन्त करुणा और त्यागका परिचय देते हैं। जान पड़ता है कि यह कहानी लोकमें बहुत प्रिय थी और

गुप्तकालमें इसका विशेष प्रचार था। महापंडित आर्यशूरने अपने जातकमाला नामक ग्रन्थमें पहली कहानीके रूपमें रोचक शैलीसे व्याघ्री–जातकका ही वर्णन किया है। गुप्तकालकी इस मर्मस्पर्शी कथाके समकक्ष ही ब्राह्मण साहित्यमें से महाकवि कालिदासने भी एक अत्यन्त द्रावक कथाको चुना और रघुवंशके द्वितीय सर्गमें दिलीप और नंदिनी गौकी कथाके रूपमें उसका वर्णन किया है। बुद्धकी तरह अनेक कल्याणोंसे युक्त अपने तेजस्वी शरीरको हिंसक सिंहके सामने मांसपिंडकी भाँति रखकर नन्दिनी गौकी रक्षा करनेवाले राजा दिलीपकी कथा व्याघ्री–जातककी कथासे किसी प्रकार कम प्रभावोत्पादक नहीं थी।[1]

३ कच्छप जातक—इसमें एक कछुएकी कथा है, जो अपनी वाणीको वशमें न रख सकनेके कारण मारा गया। एक ताल पर एक कछुआ रहता था। दो हंस उसके मित्र थे। जब तालका पानी सूखने लगा, तब हंसोंने कछुएको दूसरी जगह ले जाना चाहा। वे एक लकड़ी लाए, जिसे कछुएने बीचमें मुँहसे दबा लिया। कछुएको उन्होंने समझा दिया था कि अपना मुँह न खोले। जब वे उड़ते हुए गाँवके ऊपर पहुँचे तो गाँववालोंने शोर मचाया। उसे सुनकर कछुएसे न रहा गया। पर जैसे ही उसने मुँह खोला वह धड़ामसे नीचे गिर पड़ा। जातकके दृश्यमें गाँववाले कछुएको डंडोंसे धुनकते हुए दिखाए गए हैं।

---

१ बौद्ध संस्कृत साहित्य और ब्राह्मण संस्कृत साहित्यमें इस प्रकारके सदृश अभिप्राय और भी हैं। रघुवंशमें कालिदासने कुबेरकोषसे सुवर्णवृष्टि होनेका मनोहर वर्णन किया है। दिव्यावदान ग्रन्थमें भी आकाशसे इसी प्रकार सोना बरसनेका उल्लेख है। गुप्तकाल में देशकी जो अभूतपूर्व समृद्धि हुई, रत्न और स्वर्णकी राशियाँ देश और विदेशसे सिमिटकर घरोंमें संचित हो गईं, उसी के अनुरूप दिव्य स्वर्णवृष्टिकी यह कल्पना थी। कलाके अलंकरण और साहित्यके वर्णन युगविशेषकी देन होते हैं, किसी एक धर्म या संप्रदायसे उन्हें सीमित नहीं किया जा सकता।

४. उलूक जातक— एक बार सब पक्षियोंने उल्लूको अपना राजा चुनना चाहा, पर कौएने इसका विरोध किया। तभीसे कौए और उल्लूका शाश्वत वैर और 'काकोलूकीय संग्राम' शुरू हुआ। दृश्यमें दो घड़ोंसे उलूकका अभिषेक दिखाया गया है। कच्छप जातक और उलूक जातक उन कहानियोंमें से हैं, जो भारतीय लोकजीवनकी सामान्य सम्पत्ति थीं। इस प्रकारकी सैकड़ों मनोहर कहानियोंको जातकसंग्रहमें स्थान मिला था।

५. वलहस्स जातक—किसी पूर्वजन्ममें बोधिसत्त्वने वलहस्स नामक अश्वके रूपमें एक श्रेष्ठीके यहाँ जन्म लिया। वह श्रेष्ठी एक सहस्र साथियोंको लेकर सामुद्रिक व्यापारको गया। मार्गमें एक द्वीप मिला, जहाँ सुन्दर स्त्रियोंका रूप बनानेवाली यक्षिणियों का अड्डा था। ५०० व्यापारी उनके कपटजालमें फँस गए। यक्षिणियोंने पहले तो उनके साथ विलास किया और फिर उन्हें यातना-कूपमें डालकर खा डाला। शेष पाँच सौ व्यापारी अपने श्रेष्ठीके समझानेसे यक्षिणियोंके रूप-प्रलोभनमें नहीं फँसे। वे वलहस्स नामक अश्वका सहारा पकड़कर उससे लटक गए और बोधिसत्त्वने समुद्र के पार कूदकर उनके प्राण बचाए। मथुराके वेदिकास्तम्भ पर इस जातकका चित्रण बड़ी विवरणात्मक शैलीमे हुआ है, जिसमें यातना-कूपमें पड़े हुए असहाय व्यापारी और महान् पराक्रम करते हुए वलहस्स अश्वको दिखाया गया है।

इन प्रधान जातकोंके अतिरिक्त प्रथम शती ई० पूर्वके अतिसुन्दर शतपत्रांकित एक वेदिकास्तम्भ पर एक जातककथाका चित्रण है, जो ५५० जातकोंके संग्रहमें नहीं पाई जाती। चीनी भाषामें अनुवादित भगवान बुद्धके जीवनचरितमें संयोगवश मथुराकी इस कथाका विवरण सुरक्षित रह गया है। संसारमें सबसे बड़ा दुःख कौन है?—इस महाप्रश्नकी व्याख्या बोधिसत्त्व अपने शिष्योंसे कर रहे हैं। बोधिसत्त्व एक वृद्ध संन्यासीके रूपमें पर्णशालाके सामने बैठे हैं और उनके चार शिष्य सर्प, मृग, काक और कपोत

के रूपमे उनके सामने बैठे हैं। देहधारी व्यक्तिके लिये सबसे बड़ा दुःख क्या है? इस प्रश्नके उत्तरमें साँपने कहा—क्रोध सबसे बडा दुःख है। हिरनने कहा—लोभ सबसे बडा दुःख है। कौएने कहा—भय सबसे बडा दुःख है। कबूतरने कहा—काम सबसे बडा दुःख है। अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार दिये हुए उनके उत्तरोंको सुनकर बोधिसत्त्वने सबका समाधान किया और कहा कि ससारमें जन्म लेना ही सबसे बडा दुःख है। शरीर ही वासनाओंका मूल है। निर्वाणप्राप्ति ही दुःखोसे छूटनेका उपाय है।

इनके अतिरिक्त और भी कई जातकों के कुछ फुटकर चित्रण वेदिकास्तम्भों पर मिले हैं। विशेषकर ऋष्यशृगकी मूर्ति एक स्तम्भ पर बहुत ही सुन्दर है। यह मनोहर कथा महाभारत, रामायण, जातक और जैन ग्रन्थोंमें विस्तार से पाई जाती है। इसके मूलमे यह भाव है कि ससारसे बिल्कुल अलग ऋषिके पवित्र आश्रममे प्रतिपालित अतएव विषयोंसे नितान्त अनभिज्ञ भी एक युवा ऋषिकुमार जब वासनामय ससारके स्पर्शमें आता है तब काम के छिपे हुए अकुर उसके हृदयमें स्वत फूट पडते हैं और वह उनके वशीभूत हो जाता है।

वेदिकास्तम्भोंकी वास्तविक शोभा तो उनकी स्त्री-मूर्तियामें है, जो सौन्दर्य और विषयकी दृष्टिसे अत्यन्त आकर्षक हैं। वेदिका-स्तम्भोंकी स्त्रियोको हम माथुरी शिल्प-लक्ष्मीका स्फुट रूप कह सकते हैं। खम्भों पर उत्कीर्ण स्त्री-प्रतिमाओका प्रथम रूप भरहुत-कलामें मिलता है, पर उनका जैसा उत्कृष्ट सौन्दर्य मथुराकी कुषाण-कलामें देखा जाता है वैसा अन्यत्र नहीं। रायपसेणियसूत्रमे वेदिकास्तम्भोंकी स्त्री-मूर्तियोंका बहुत ही सजीव वर्णन पाया जाता है—

'तोरणके दोनों ओर १६–१६ शालभजिका मूर्त्तियोंकी पंक्ति थी। वे नानाविध ललित मुद्राओंमें खडी थीं और अनेक प्रकारके आभूषण-अलकारोंसे युक्त थीं। उनके शरीरों पर रगबिरंगी वस्त्र थे। उनका कटिभाग इतना पतला था कि मुट्ठीमें आ सके। उनके स्तनप्रदेश दृढ और नेत्रोंकी कोरें लाल थीं। उनके केश घुँघराले

और काले थे। वे अशोकके पेड़के नीचे कुछ झुककर खड़ी हुई बाएँ हाथसे उसकी डालको झुकाए हुए थीं। अपने कटाक्षोंसे वे मनुष्य तो क्या देवोंका भी मन मोह ले सकती थीं, और चक्षुओंके अवलोकनसे मनको खिझाती-सी जान पड़ती थीं।'

मथुरासे प्राप्त वेदिकास्तम्भों पर उकेरी हुई स्त्री-मूर्तियोंको देखकर ऊपरके वर्णनकी यथार्थता प्रकट होती है।

कलाको नाना प्रकारके चित्रणसे रसमय बनानेके लिये शिल्पियोंने स्तम्भोंका उपयोग किया। कुषाणकालीन वेदिकास्तम्भ स्त्रियोंके आमोद-प्रमोदमय जीवनके स्थायी अंकनपट्ट हैं। उनके द्वारा हम प्राचीन सामाजिक जीवनको साकार रूपमें देख सकते हैं। गंगा-यमुनाकी अन्तर्वेदी और मध्यदेशमें प्राचीन कालसे नाना प्रकारकी क्रीडाओंका प्रचार था। पाणिनिने अष्टाध्यायीमें प्राच्य देशकी क्रीडाओंके नामसे उनका उल्लेख किया है। 'प्राचां क्रीडायाम्' सूत्रके कई उदाहरण ग्रन्थोंमें मिलते हैं—जैसे उद्दालकपुष्पभंजिका, वीरणपुष्पप्रचायिका, अशोकपुष्पप्रचायिका, शालभंजिका आदि। ये प्राचीन समयमें प्रचलित स्त्रियोंके आमोद-प्रमोदोंकी संज्ञाएँ थीं। इन क्रीडाओंकी एक लम्बी सूची वात्स्यायनके कामसूत्र और उसकी जयमंगला टीकामें भी उद्धृत की गई है। वस्तुतः ये क्रीडाएं दो प्रकारकी थीं: एक बाग-बगीचोंमें स्त्री-पुरुषोंके विहारके रूपमें, जिन्हें उद्यानक्रीडा या पालीमें उय्यानकीडा कहा गया है। दूसरे जलाशय या नदियोंके जलविहार के रूपमें, जिन्हें सलिलक्रीडा कहा गया है। महाकवि दंडीने अपने काव्यादर्शमें महाकाव्यके जो लक्षण गिनाए हैं उनमें उद्यानक्रीडाओं और सलिलक्रीडाओंका वर्णन प्रबन्धकाव्यका आवश्यक अंग माना गया है। अश्वघोष, कालिदास, माघ, भारवि आदि कवियोंने अपने-अपने काव्योंमें दोनों प्रकारकी क्रीडाओंके वर्णनको स्थान दिया है। कला और काव्य दोनों एक ही सामाजिक जीवनसे अपने लिये सामग्री चुनते हुए जान पडते हैं। जनताके जीवनका सत्य ही शिल्पियोंके चित्रण और कवियोंके वर्णनमें प्रकट हुआ है। इसी कारण काव्योंमें

वर्णित उद्यान-सलिलक्रीडाओं एव वेदिकास्तम्भो पर अंकित स्त्री-पुरुषोंके आमोद-प्रमोदोमे इतना अधिक साम्य है। मथुरासे मिली हुई इस प्रकारकी सामग्रीके कुछ विषय इस प्रकार हैं'—

इस स्तम्भ पर एक स्त्री गिरिनिर्झरके नीचे स्नान करती हुई दिखाई गई है (जे २७८, बी ६४ लखनऊ समहालय)। पहाडी झरनेकी मोटी धार उसकी पीठ पर लहराती हुई बह रही है। दूसरे स्तम्भ पर सद्य स्नानसे उठी हुई एक स्त्री अपने केशोंसे पानी की बूंदें निचोड रही है। उसकी केशनिस्तोयकारिणी मुद्रासे मोहित एक क्रीडा-मयूर पानीकी बूँदोंको उत्सुकताके साथ पी रहा है (सद्य - स्नाता, मथुरा स १५०९)। कहीं कोई स्त्री कन्दुकक्रीडामें प्रसक्त है (जे ६१ मथुरा), कहीं पति पत्नी मिलकर वेणीप्रसाधनमें सलग्न हैं (मथुरा १८६), कहीं कोई रमणी अपने नेत्रोमे अजन लगा रही है (अजयन्ती स्वके नेत्रे, मथुरा जे ५, २६७), और कहीं फूलोंकी मालाओंके बोझसे दबी हुई उत्पलमालभारिणी कन्याका चित्रण है। प्रसाधनमे अभिरत (मथुरा जे ५२, २६७), विशेपकरचनामें सलग्न एव नेपथ्यमें व्यापृत नारियो का चित्रण बहुत ही हृदयग्राही ढगसे हुआ है। इसी प्रकार दर्पणमे मुख देखती हुई (दर्पणावलोकनतत्परा, मथुरा जे ६४), स्रस्तदुकूला (जे ४) एव शिथिल काची (जे ७२) स्त्रियो का चित्रण तत्कालीन समाज के शृगारप्रधान दृश्यो को प्रस्तुत करता है। एक सम्भ्रान्त स्त्री छत्रसे अलकृत दिखाई गई है (जे १)। दूसरी स्त्री भूपणो के उन्मोचनमें प्रसक्त है (जे ५९)। एक अन्य स्त्री एक हाथमें चँगेरी और दूसरे हाथमें पानीकी झारी लिये हुए है। जैन साहित्यमे कई तरहकी चँगेरियो के नाम आते हैं, जैसे पुष्पचँगेरी, माल्यचँगेरी, चूर्णचँगेरी, गधचँगेरी, वस्त्रचँगेरी, आभरणचँगेरी, सिद्धत्थचँगेरी आदि। इस तरहकी शृगारपिटारी उठाये हुए कई प्रसाधिका स्त्रियो का चित्रण वेदिकास्तम्भो पर पाया गया है (मथुरा स १५१, ३६९)। मथुराकलामें उत्कीर्ण की गई इस प्रकारकी एक बहुत ही सुन्दर प्रसाधिका स्त्री भारत कलाभवन, काशीमें

सुरक्षित है, जो शृंगारसामग्रीकी एक डलिया या चँगेरी एक हाथ में उठाए हुए है।

इसके अतिरिक्त नृत्य और संगीतमें संलग्न स्त्रियोंका भी चित्रण हुआ है। नृत्याभिनयमें संलग्न (लखनऊ ७५ वी), सप्ततंत्री वीणा बजाती हुई (मथुरा जे ६२), अथवा वंशीवादिनी स्त्री कुछ स्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं। एक स्तम्भ पर कोई स्त्री हाथमें खड्ग लिये हुए खड्गाभिनयनृत्यका प्रदर्शन करती हुई दिखाई गई है (लखनऊ जे २७५; मथुरा २५२)। शुक-सारिकाओंके साथ क्रीडा करना स्त्रियोंका सहज विनोद था। स्तम्भों पर इस प्रकारकी क्रीडाओंके एकाधिक चित्रण प्राप्त हुए हैं (मथुरा २५८, २५९५), जो कलाके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। प्रकृतिके उदार प्रांगणमें लता-वनस्पतियाँ जब शोभा-सम्भारसे झुक जाती हैं, उन्हींके साथ स्त्रीजगत् भी सौंदर्यकी अनुभूतिसे उद्दाम हो जाता है। उनके पारस्परिक प्रभाव और अनुभूतिको मानवजीवनमें साक्षात करनेके लिये ही उद्यानक्रीडाओंका जन्म हुआ होगा। फूले हुए अशोक वृक्षके नीचे पुष्प चुनती हुई अशोक-पुष्पप्रचायिका क्रीडामें संलग्न स्त्रीका, अथवा शाल वृक्षके फूल चुनकर खेल करती हुई शालभंजिकाओं का चित्रण कई वेदिकास्तम्भों की शोभाको बढ़ाता है (मथुरा जे ५७, २९७, ४८३)। मुँह मोड़कर (साचीकृतचारुवक्त्रा मुद्रामें) खड़ी हुई और एक हाथसे डाल झुकाकर फूल चुनती हुई स्त्रीकी भावभंगी और मुद्रा अत्यन्त आकर्षक है। उद्यानक्रीडाओंकी सिरमौर वह क्रीडा थी, जिसमें कोई सुन्दर युवती रक्ताशोक वृक्षको अपने बाएँ पैरसे छूकर उसके प्रथम-पुष्प-संदर्शनका अभिनय करती थी। अशोक-दोहदकी यह क्रीडा स्त्रियोंके जीवनकी अत्यन्त साभिप्राय और कुतूहलपूर्ण घटना थी, जिसका घनिष्ठ संबंध उनके अपने यौवनके साथ था। महाकवि कालिदासने मालविकाग्निमित्र नाटकमें रक्ताशोकके दोहदका विस्तृत वर्णन किया है। मेघदूतमें भी स्त्रीके वामपादाभिलाषी अशोकका उल्लेख है। मथुराके दो वेदिकास्तम्भों पर (मथुरा जे ५५, २३४५) अशोक-

दोहदका दृश्य पाया गया है। हाल ही मे कपिशासे हाथीदाँतके कुछ सुन्दर फलक प्राप्त हुए थे। उनमे मथुरास्तम्भकी भाँति ही एक स्त्री अशोकको बाँए पैरसे छू रही है और सामने उसकी सखी खडी है। कुछ स्तम्भो पर देवार्चनमे नियुक्त स्त्री-पुरुषोका चित्रण है। एक स्तम्भ पर माता अपने पुत्र को खिलौनेसे बहलाती हुई दिखाई गई है (मथुरा जे २६)। एक दूसरे खम्भे पर एक स्त्री दुद्धाधारिणी मुद्रामे दिखाई गई है (मथुरा स २८६)। लखनऊ सग्रहालयके एक खम्भे पर घाघरा पहने हुए एक जनपदीय स्त्री सिर पर गगरी रखे हुए खडी है (जी २६)। इसे देखकर व्रजकी प्राचीन गोपीका स्मरण होता है।

वेदिकास्तम्भोंकी यह सजावट कुषाण-कलाकी ही विशेषता थी। गुप्तकालकी कलामे स्तूपके चारों ओर वेदिकास्तम्भोंका रिवाज पीछे छूट गया, अतएव गुप्तकालीन वेदिकास्तम्भ प्राय अप्राप्य ही हैं।

गुप्तकालमे वेदिका रूपी चारदीवारीका स्थान जगती और उसके उत्कीर्ण शिलापट्टोंने ले लिया, जैसा कि देवगढके दशावतार मन्दिरके उत्कीर्ण शिलापट्टोंसे ज्ञात होता है। वेदिकास्तम्भों पर उत्कीर्ण शालभजिकाओंका स्थान स्वतत्र रूपसे बनाई गई या मदिरोंके खम्भों पर उकेरी हुई सुन्दर स्त्री-मूर्तियोंने ले लिया। इस प्रकारकी स्त्री-मूर्तियोंके कई अत्यन्त सुन्दर मस्तक मथुरामें पाए गए हैं, जो केश-विन्यास एव रूपकी दृष्टि से बहुत ही आकर्षक हैं (मथुरा २६१, एफ ३३, कटरा २४२)।

तीसरा व्याख्यान

ब्राह्मणधर्म संबंधी देवमूर्तियाँ

मथुरा कुषाणकालमें उत्तरी भारतका प्रधान कलाकेन्द्र था। हम देख चुके हैं कि मथुरामें बौद्धधर्म सम्बन्धी अनेक प्रकारकी मूर्तियोंका पहलेपहल निर्माण हुआ। बौद्ध मूर्तियोंके समान ही मथुराकलाकी दूसरी बड़ी विशेषता ब्राह्मणधर्म संबंधी मूर्तियोंका निर्माण थी। मथुरामें और उसके चारों तरफ़ दो–ढाई सौ मीलके घेरेमें प्राचीन भागवतधर्मका प्रभाव बहुत बढ़ाचढ़ा था। मथुरामें भगवान् वासुदेवका एक मंदिर था। मथुरासे कुछ दूर पर मोरा गाँवमें ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीके लगभग एक दूसरा मंदिर था, जिसमें भागवत-धर्मके पंचवीरोंकी मूर्तियाँ स्थापित थीं। ग्वालियर राज्यके बेसनगर स्थानसे प्राप्त एक लेखसे ज्ञात होता है कि वहाँ भी भगवान् वासुदेवका एक उत्तम प्रासाद या मंदिर था।[१] चित्तौड़के पास नगरी स्थानमें भी संकर्षण और वासुदेवके मंदिर थे।[२] भागवत हीलियोदोरने विष्णुकी भक्तिसे प्रेरित होकर बेसनगरमें एक गरुडध्वजकी स्थापना की थी। इन प्रमाणोंसे यह निश्चित जान पड़ता है कि भागवत या प्राचीन पांचरात्र धर्मका मथुरामें और उसके चारों ओर काफ़ी प्रभाव था। उसीके अंतर्गत वैष्णव मूर्तियोंकी रचना सर्वप्रथम हुई जान पड़ती है। शनैः शनैः देवी–देवताओंको मूर्तरूपमें अंकित करनेकी प्रथाने ज़ोर पकड़ा होगा और शिव, सूर्य, शक्ति और उनके परि-वारकी मूर्तियाँ बहुतायतसे बनने लगीं। मथुरामें उस समय धर्मकी जो लहर थी उसका सबसे अधिक प्रभावशाली और स्थायी फल देवी–देवताओंकी मूर्तियोंके रूपमें ही प्रकट हुआ। धर्मप्राण जनताके मनोभाव मानो मूर्तियोंके रूपमें ढलकर सामने आने लगे। भारतके

१. भारतीय पुरातत्त्वकी वार्षिक रिपोर्ट, १९१३–१४, पृ० १९१–९२।

२. हाथीवाड़ा शिलालेख, भारतीय पुरातत्त्वकी वार्षिक रिपोर्ट, पृ० ५५–५६।

धार्मिक इतिहासमे यह बहुत भारी परिवर्तन था, जिसका प्रभाव आगे आनेवाले दो हजार वर्षोंके इतिहास पर पड़ा और आज भी यह प्रभाव अनेक प्रकारसे लोगोंके जीवनमे प्रविष्ट है। मूर्तिके बिना भारतीय धार्मिक जीवनका चित्र अधूरा रहता है। मूर्तिसे आरम्भ करके ही कालान्तरमे अनेक विशाल मंदिरोंका निर्माण हुआ, जिनके रूपमे शिल्प और स्थापत्यकी उन्नति अपनी पराकाष्ठाको पहुँच गई।

ब्राह्मणधर्ममे देव-प्रतिमाओंका निर्माण कब आरम्भ हुआ इस विषयमे विद्वानोंमे मतभेद है, किन्तु पुरातत्त्वकी साक्षीसे यह प्रमाणित होता है कि प्रथम शताब्दी ई० पू० के लगभग कुषाणकालके आरम्भ होते-होते मुख्य-मुख्य देवी-देवताओंकी मूर्तियोंका निर्माण मथुरा-कलामे होने लगा था। कुषाणकालीन कलामे मथुरासे अभी तक निम्नलिखित देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ पाई गई हैं —

१ ब्रह्मा	८ सूर्य
२ विष्णु	९ इन्द्र
३ कृष्ण	१० कामदेव
४ बलराम	११ कुबेर
५ शिव-(अ) लिंग-विग्रह, (आ) पुरुष-विग्रह, (इ) अर्ध-नारीश्वर, (ई) शिव-पार्वती।	१२ गरुड
	१३ नाग-नागी
	१४ सरस्वती
	१५ लक्ष्मी
	१६ दुर्गा, सिंहवाहिनी
६ कार्तिकेय	१७ महिषासुरमर्दिनी
७ गणपति	१८ सप्तमातृका

कुषाणकालमे ऊपर लिखी हुई मूर्तियोंका प्रारम्भिक रूप देखनेमे आता है। जैसा प्राय होता है, आरम्भिक विकासके समय कई देवताओंकी मूर्तियाँ एक-दूसरेसे मिलती-जुलती हुई पाई जाती हैं, जिसमें विष्णु, इन्द्र, कार्तिकेय, बलरामकी मूर्तियोंका आकार बहुत कुछ बोधिसत्वकी मूर्तियोंसे मिलता है। शनै शनै प्रत्येक मूर्तिकी अपनी

विशेषाएँ स्थिर होने लगीं और लगभग तीन शताब्दियोंके समयमें मूर्तियोंके ये रूप और पारस्परिक भेद अच्छी तरह व्यक्त हो गए। गुप्तकालमें ऊपर लिखी हुई मूर्तियोंका निर्माण हरएककी निजी विकास-शैलीके अनुसार पूर्ण उन्नतिको प्राप्त हो गया; किन्तु इनके अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य देवी-देवताओं और अवतारोंके रूप मथुराकी मूर्ति-कलामें बनने लगे थे, जैसा कि तत्कालीन सामग्रीसे प्रमाणित होता है:—

१९. हरिहर	२३. सूर्यका पार्श्वचर पिंगल
२०. त्रिविक्रम	२४. सूर्यका पार्श्वचर दंड
२१. नृसिंह-वराह विष्णु,	२५. नवग्रह
२२. शिवकी लीलाएँ, जैसे रावणका कैलास उठाना	२६. गंगा
	२७ यमुना

अब इनमें से क्रमशः एक-एक मूर्तिका वर्णन किया जाता है।

१. ब्रह्मा

मथुरा-कलामें ब्रह्माका चित्रण सर्व प्रथम बुद्धकी जीवन-घटनाके अंकनमें मिलता है। त्रायस्त्रिंश स्वर्गमें अपनी माताको धर्मज्ञान सिखाकर जब बुद्ध स्वर्गसे वापस उतरे, तो उनके एक ओर ब्रह्मा और दूसरी ओर इन्द्र उनके साथ चल रहे थे—इस प्रकारकी कल्पना बौद्ध साहित्यमें पाई जाती है। मथुरासे प्राप्त कुषाणकालीन एक स्तूपके घेरे (संख्या एन २) पर यह अंकन पाया गया है। इसमें ब्रह्माके दाढ़ी तो है, किन्तु वे एकमुखी बनाए गए हैं। इसके अतिरिक्त कुषाणकालमें ही ब्रह्माकी स्वतंत्र चतुर्मुखी मूर्ति भी बनने लगी थी।

इनमे सबसे पुरानी एक मूर्ति है (संख्या ३८२), जिसमें सामनेकी ओर जटाजूटधारी तीन मस्तक हैं। बीचका मस्तक शेष दोनोंसे बड़ा है। उसीके पीछे एक ऊर्ध्वकाय पुरुषकी मूर्ति है, जिसका कुल बदामा हिस्सा गोल प्रभामंडलसे घिरा हुआ है। मूर्तिका
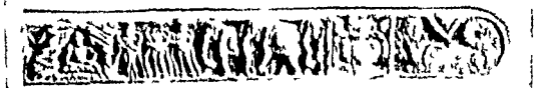
६ बौद्ध तोरण (मथुरा संग्रहालय) पृ ३५

७ कंकाली टीला से प्राप्त तोरण, जिस पर स्तूप की पूजा का दृश्य है (लखनऊ संग्रहालय) पृ ३५

८/१. महोलीसे प्राप्त मधुपान-दृश्यका शिलापट्ट (राष्ट्रीय संग्रहालय)

८/२ महोलीमें प्राप्त मधुपान-दृश्यका शिलापट्ट (राष्ट्रीय संग्रहालय)

९. गुप्तकालीन विष्णुमूर्ति (मथुरा संग्रहालय) पृ. ६२

१५. वेदिकास्तम्भ (पुष्पप्रचायिका क्रीडा)
(मथुरा संग्रहालय) पृ. ४८

मस्तक खंडित हो गया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि उसका दाहिना हाथ अभयमुद्रामे था और बाएँ हाथमें अमृतघट जैसी कोई वस्तु थी। मूर्तिके कंधेका उत्तरीय और एकासिक वस्त्रकी सलवटें बुद्धकी आरम्भिक मूर्तियोंके जैसी हैं। इस मूर्तिकी एक विशेषता यह है कि उसके पीठ-पीछेकी ओर फूलके गुच्छोंसे लदा हुआ अशोकका एक वृक्ष अंकित है। पृष्ठांकित अशोककी यह विशेषता मथुराकी अन्य दो विशिष्ट मूर्तियोंमे भी पाई गई है। इनमे से एक तथाकथित इन्द्रकी मूर्ति (स ३९०) है और दूसरी नागराज्ञीकी मूर्ति है (एफ २)। जान पडता है कि शुरूमे अशोकके वृक्षका इस प्रकार अंकन बहुत कुछ शोभाके लिये था। इस प्रकार मूर्तिके पीछे वृक्ष अंकित करनेकी प्रथा बहुत सम्भव है बोधिवृक्षके नीचे बैठे हुए बुद्धकी मूर्तिको देखकर की गई हो, जिसके कई उदाहरण मथुरा-कलामे पाए गए हैं। ब्रह्माकी एक दूसरी कुषाणकालीन मूर्ति (सं २१३४) है। इसमे भी तीन मस्तक एक पंक्तिमें हैं, किन्तु दो बातोंमे पहली मूर्तिसे स्पष्ट भेद है एक तो पहली मूर्तिमे मस्तकोंमे दाढी न थी, जबकि इस मूर्तिके तीनों मस्तकोंमे दाढी है। सिर पर जटाजूट दोनोंमें समान है। दूसरे, उत्तर-दक्खिनके दोनों सिरोंका दर्शन पहली मूर्तिमे सामनेकी ओर से है, जबकि दूसरी मूर्तिमे वे उत्तर-दक्खिनकी ओर मुडे हुए हैं और उनका केवल पार्श्व-दर्शन हमे मिलता है। मूर्तिके ऊपरका बदामा भाग पहले जैसा ही है। ये दोनों मूर्तियाँ ठेठ कुषाणकालकी होनी चाहिए। इनमे ब्रह्माकी निकली हुई तोंदका अभाव है। लगभग दूसरी या तीसरी शताब्दीकी एक और चौमुखी खड़ी मूर्ति है (मथुरा संग्रहालय, ई १०)। मूर्तिका उत्तराभिमुख मस्तक जटाओंसे ढका है। दक्षिणाभिमुख और पीछेके मस्तक टूट गए हैं, किन्तु सामनेके मस्तक पर मुकुट है। पीछेकी मूर्ति तुंदिल है, फिर भी उपलब्ध लक्षण इतने पर्याप्त नहीं हैं कि निश्चय रूपसे इसे ब्रह्माकी मूर्ति माना जा सके।

एक चौथी मूर्ति (मथुरा स २४८१), जो रचनाशैलीसे

लगभग चौथी शताब्दीकी जान पड़ती है, निस्संदेह ब्रह्माकी है। मूर्तिमें तीन मस्तक हैं। जिस अतिरिक्त मस्तकको कुषाणकालमें मूर्तिके मध्यमें ऊपर निकला हुआ बनाते थे उसकी प्रथा गुप्त-कालमें जाती रही और यह मान लिया गया कि चतुर्मुखी ब्रह्मा और पंचमुखी शिव—दोनोंका दर्शन यदि सामनेकी ओरसे किया जायगा तो केवल तीन मुख दिखाई पड़ेंगे। मूर्तिके तीनों सिरों पर जटाबन्ध केश हैं और बीचके मुख पर दाढ़ी है। मूर्तिका पेट निकला हुआ है और हाथ केवल दो हैं, दाहिना अभयमुद्रामें था और बाँया कटिविन्यस्त मुद्रामें, जो टूटा हुआ है। मूर्तिके पृष्ठभागमें प्रभामंडल उत्कीर्ण है। इसके बाद मध्यकालकी एक खड़ी हुई बड़ी मूर्ति है, जिसमें ब्रह्मा चतुर्मुख, चतुर्भुज, कमलासन एवं स्रुच और स्रुवा लिये हुए दिखाए गए हैं। सिर पर जटाजूट है, किन्तु मुख पर दाढ़ीका अभाव है। यह मूर्ति लक्षणशास्त्रके अनुसार बनाई हुई जान पड़ती है। मत्स्यपुराणके अनुसार ब्रह्माकी मूर्तिके लक्षण इस प्रकार है:—

> ब्रह्मा कमंडलुधरः कर्तव्यः सचतुर्मुखः।
> हंसारूढः क्वचित्कार्यः क्वचिच्च कमलासनः॥
> वर्णतः पद्मगर्भाभश्चतुर्बाहुः शुभेक्षणः।
> कमंडलुं वामकरे स्रुचं हस्ते तु दक्षिणे॥
> वामे दंडधरं तद्वत् स्रुवं चापि प्रदर्शयेत्।
> वामपार्श्वे ससावित्रीं दक्षिणे च सरस्वतीम्॥
>
> —अध्याय २६०, श्लो. ४०, ४१ और ४४

यह मूर्ति मथुरासे बाहर सरस्वतीकुंड नामक स्थान पर पूजामें थी। लगभग इसी समयकी एक दूसरी मूर्ति चतुर्मुख ब्रह्मा और सरस्वतीकी है, जो एक ही पद्मासन पर बैठे हुए दिखाए गए हैं। ब्रह्माका दाहिना पैर और सरस्वती का बाँया पैर कमल पर रखा हुआ है, जिनके बीचमें ही हंसोंका जोड़ा बैठा हुआ है। ब्रह्माके हाथोंमें स्रुवा और पुस्तक हैं और सरस्वतीके हाथोंमें दर्पण है।

ब्रह्माकी यह युगलमूर्ति शिव-पार्वती और लक्ष्मी-नारायणकी शैली पर मध्यकालमे कल्पित की गई जान पड़ती है।

इस प्रकार ब्रह्माकी मूर्तिका विकास मथुरा-कलामे पाया जाता है। कुषाणकालके शिल्पी मूर्तिके धार्मिक वर्णनोंके अनुसार उसके मस्तक, हाथ और आयुधोंकी परिभाषा ठीक करते हुए जान पड़ते हैं। पृष्ठांकित अशोकवृक्ष ब्रह्मासे असम्बद्ध होते हुए भी मूर्तिका-सम्बन्ध तत्कालीन अन्य देवमूर्तियोंके साथ स्पष्ट सूचित करता है। गुप्तकालमें मूर्तिरचनाकी परिभाषा कुछ स्थिर होने लगती है, किन्तु तब भी शिल्प और साहित्य दोनोंके लक्षण तरल अवस्थामे थे, जैसाकि गुप्तकालीन मूर्तिके केवल दो हाथोंकी सख्यासे प्रकट होता है। मध्यकालीन मूर्तिका निर्माता शिल्पी धार्मिक परिभाषाओं और शिल्पशास्त्रोंके लक्षणोंसे पूर्णत नियन्त्रित है। उसकी निर्मित प्रतिमा शास्त्रीय लक्षणोंकी व्याख्या करती हुई जान पड़ती है।

२. विष्णु (कृष्णावतार)

कृष्णकथाका साहित्यिक उल्लेख तो बहुत प्राचीन ग्रथोंमे मिलता है। यास्कके निरुक्तमे एक उदाहरणमे अक्रूरके मणिधारण करनेका उल्लेख पाया जाता है। अक्रूर और स्यमतक मणिकी कथाका कृष्णचरित्रके साथ पौराणिक आख्यानोंमे सम्बन्ध है। वासुदेव कृष्ण और जाम्बवतीके विवाहका उल्लेख प्राचीन जातककी कहानीमे भी पाया जाता है (महाउम्मग जातक ६ ४२१)। पाणिनिने एक सूत्रमें वासुदेवकी भक्तिका उल्लेख किया है (वासुदेवार्जुनाभ्या वुन्, ४ ३ ९८)। पतजलिने अपने भाष्यमें कसवध नाटकका अभिनय करनेवाले पात्रोंकी चर्चा की है। मथुरासे प्राप्त शिलालेख भी इस बात को प्रमाणित करते हैं कि शोडासके राज्यकालमे वहाँ भगवान् वासुदेवका एक महास्थान या मदिर था। महाक्षत्रप राजुवुलके पुत्र महाक्षत्रप स्वामी शोडासके राज्यकालमे मथुरासे सात मील दूर मोरा नामक गाँवमें वृष्णि पचवीरोंकी प्रतिमाओं और देवगृहका स्थापना हुई थी। लेख इस प्रकार है —

१. महाक्षत्रपस राजूवुलस पुत्रस स्वामि......।

२. भगवतां वृष्णीनां (—) पंचवीराणां प्रतिमा (:) शैलदेवगृ...

३. यस्तोषाया: शैलं श्रीमद्गृहमतुलमुदधसमधार.........

४. आर्चादेशां शैलां पंच ज्वलत इव परमवपुषा............

यथा —

१. महाक्षत्रप राजुवुलके पुत्र स्वामी (महाक्षत्रप शोडासके राज्यकालमें)

२. वृष्णियोंके भगवान पंचवीरोंकी प्रतिमाएं......और शिला-निर्मित देवगृह अर्थात् पत्थरोंसे बना हुआ मंदिर

३. तोषाने बनवाया हुआ जो अनुपम, शिलानिर्मित, सुन्दर (देव)गृह है.........

४. सुन्दर शरीरसे प्रकाशवान पांच शिलानिर्मित मूर्तियां।

इस लेखमें आए हुए वृष्णियोंके पंचवीर कौन-से हैं, जिनकी पूजा होती थी? इस प्रश्न पर विचार करते हुए डा. ल्यूडर्सने जैन साहित्यके आधार पर यह सिद्ध किया था कि बलदेव, अक्रूर, अनाधृष्टि, सारण और विदूरथ—ये वृष्णियोंके पंचवीर थे। इस सूचीमें कृष्णका नाम नहीं है और बलदेवका नाम पहला है। जैन ग्रंथ 'अंतगडदसाओ' के प्रथम अध्यायमें लिखा है कि जब कृष्ण वासुदेव द्वारावतीमें राज्य करते थे तब उन अनेक राजकुमारोंमें, जो उनके अधीन थे, बलदेव प्रमुख पंचवीरोंकी गणना हुई थी। ज्ञाताधर्मकथाके अनुसार राजा द्रुपदने द्रौपदीके स्वयंवरमें द्वारिकाके राजकुमारोंको निमंत्रण भेजते हुए बलदेव प्रमुख पंचवीरोंको भी निमंत्रण भेजा था। हम समझते हैं कि डॉ. ल्यूडर्सकी यह पहचान मान्य नहीं है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें वृष्णियोंके पंचवीरोंका स्पष्ट उल्लेख है:—

मनुष्यप्रकृतीन् देवान् कीर्त्यमानान्निबोधत।
संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नः साम्ब एव च।
अनिरुद्धश्च पंचैते वंशवीराः प्रकीर्तिताः॥

—वायुपुराण, अध्याय ९७

अर्थात् सकर्पण, वासुदेव, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध—ये पाच यशवीर (?घृष्णिवीर) कहे गए हैं, अर्थात् जो मनुष्य होते हुए देवपदवीको प्राप्त हुए। घृष्णियोंके पचवीरोंकी यह पहचान, जिसमे वासुदेवका नाम भी सम्मिलित है, पाचरात्र भागवतोंके व्यूहके साथ यथार्थरूपमे मिलती है। अतएव यही मान्य है। पतजलिने महाभाष्यमे जनार्दन विष्णुके चतुर्व्यूहका उल्लेख किया है—'जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव' (सूत्र ६ ३ ५), अर्थात् वह चतुर्व्यूह जिसमे जनार्दन या वासुदेव कृष्ण चौथे हैं। इस सूचीमें सकर्पण अर्थात् बलराम कृष्णके भाई थे, प्रद्युम्न उनके पुत्र थे और अनिरुद्ध प्रद्युम्न के पुत्र यानी कृष्णके पोते थे। इस चतुर्व्यूहमे साम्बका नाम जोड देनेसे घृष्णियोंके पचवीरोंकी सख्या पूरी हो जाती है। साम्ब जाम्बवती के गर्भसे उत्पन्न कृष्णके पुत्र थे, जो शरीरसे अत्यत रूपवान् थे और जिन्होंने सूर्यकी उपासना करके अपने कोढ-रोगसे मुक्ति पाई थी। मोराके घृष्णि पचवीरोंका सबध निश्चयपूर्वक भागवतधर्मसे ज्ञात होता है।

मोराका मदिर ई पू प्रथम शताब्दीमे बनवाया गया था, और उसमे स्थापित मूर्तियाँ भी उसी समय बनवाई गई होनी चाहिए। मदिरके स्थानकी खुदाईमे चार मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमे से एक स्त्री-मूर्ति है। उसकी चरण-चौकीके लेखसे मालूम होता है कि वह तोपाकी मूर्ति थी, जिसने मदिरका निर्माण कराया था। शेप तीन मूर्तियाँ पुरुषोंकी थीं, जिनमे दोका बीचका भाग सुरक्षित रह गया है। ये मूर्तियाँ घृष्णिवीरोंकी होनी चाहिए। मूर्तियोंके आयुध या विशेप लक्षण इस समय सुरक्षित नहीं हैं, किन्तु उनकी रचनाशैली, आभूषण और वस्त्र पहिननेके प्रकारसे उनका सादृश्य प्राचीन यक्षमूर्तियोंके साथ प्रकट होता है। मूर्तियाँ कलाकी दृष्टिसे प्रथम शताब्दी ई पू या क्षहरात क्षत्रपकालकी मानी जा सकती है।

मिली है (भारतीय पुरातत्त्व वार्षिकी, १९०७-८, पृ ९७)।

इस प्रकार गुप्तकालमे भारतीय शिल्पमें कृष्णलीलाका अंकन पाया जाता है, किन्तु मथुरासे प्राप्त शिल्प-सामग्रीमे अभी तक उसका अभाव है।

४. बलराम

भागवतधर्ममे जिस चतुर्व्यूहकी मान्यताका समर्थन मोराके शिलालेख और पतजलिके उल्लेख (जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव)से प्रमाणित होता है, उसमे कृष्णके बडे भाई बलरामकी पूजाको प्रमुख स्थान दिया गया था। प्राचीनतम उल्लेखोंमे बलरामका नाम कम और सकर्षणका नाम विशेषरूपसे पाया जाता है। पतजलिने एक स्थान पर कृष्णके साथ सकर्षणके बल या सेनाका उल्लेख किया है 'सकर्षणद्वितीयस्य बल कृष्णस्य वर्धताम्।'[1] (सूत्र २ २ २४)

पतजलिने केशव और राम अर्थात् कृष्ण और बलरामके प्रासाद या मदिरका उल्लेख किया है 'प्रासादे धनपतिराम-केशवाना च।'[2] (सूत्र २ २ ३४)

राम और केशवके ही दूसरे नाम सकर्षण और वासुदेव प्रसिद्ध थे। वस्तुत नगरी और घोसुडी एव बेसनगरके लेखोंमें सकर्षण और वासुदेवके ही नामोंका प्रयोग हुआ है।

मथुरा-कलाकी उपलब्ध शिल्पसामग्रीसे यह सिद्ध होता है कि बलरामकी मूर्तियाँ शुगकालमे ही बनने लगी थीं। मथुरा-गोवर्धनकी सड़क पर स्थित जुनसुटी नामक गाँवसे ढाई फुट ऊची एक

---

१ सभापर्व (१४ ३५)में कृष्णने 'सकर्षणद्वितीय' पदका अपने लिये प्रयोग किया है 'सकर्षणद्वितीयेन ज्ञातिकार्यं मया कृतम्।' इसी प्रकार उद्योगपर्व (पूना सस्करण ४७ १२) में बलदेवकी सहायतासे कसको मारनेका उल्लेख है—

तयोम्रसेनस्य सुत प्रदुष्ट वृष्ण्यन्धकाना मध्यगतं तपन्तम्।
अपातयद् बलदेवद्वितीयो हत्वा ददौ चोग्रसेनाय राज्यम्॥

२ रामश्च केशवश्च रामकेशवौ। धनपतिश्च रामकेशवौ च धनपतिरामकेशवास्तेषा धनपतिरामकेशवानाम्।

बलरामकी शुंगकालीन मूर्ति मिली है। इसके सिर पर शुंगकालीन दूसरी मूर्तियोंकी तरह भारी पगड़ बँधा हुआ है। कानोंमें भारी कुंडल और गलेमें एक ढोलना पड़ा हुआ है। पैरोंके बीचमें धोतीकी तिखूंटी पटली और कमरके चारों ओर लपेटा हुआ फेंटा एवं खड़े होनेका ढंग बहुत कुछ पुरानी यक्षमूर्तियोंसे मिलता है। मूर्तिके सिरके ऊपर साँपके फनोंका घटाटोप है। मूर्तिके पृष्ठभागमें भी साँपके कुंडल अंकित हैं। मूर्तिकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह दाहिने हाथमें मुग्दरके आकारका मूसल और बाएँ हाथमें हल पकड़े हुए है। इन दो आयुधोंके कारण मूर्ति निश्चित रूपसे बलरामकी सिद्ध होती है। यह मूर्ति इस समय लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है (लखनऊ सं. जी २१५)।

इस प्रकार यद्यपि प्रथम शताब्दी ई. पू.के लगभग या उससे कुछ पहले ही प्रतिमाशास्त्रकी दृष्टिसे बलरामकी मूर्तिका स्वरूप निश्चित हो चुका था, फिर भी कुषाणकालमें बलरामकी मूर्तियोंकी संख्या विशेष नहीं है। मथुरासे प्राप्त अधिकांश मूर्तियाँ नागदेवताओंकी हैं। बलराम और शेषनाग—इन दोनोंकी पूजा एक-दूसरेसे घनिष्ठ संबंध रखती थी।

मथुराकी एक मूर्ति (मथुरा सं. सी १९), जिसे डॉ. वोगलने नागमूर्ति माना था, अवश्य ही बलरामकी मूर्ति जान पड़ती है। मूर्ति कुषाणकालकी है। उसका दाहिना हाथ अभयमुद्रामें कंधेके ऊपर उठा हुआ है। बाएँमें चषक या मद्यपात्र है। दाहिनी ओर लम्बा मूसल है, बाईं ओर एक खम्भा है, जिसके उपरले सिरे पर एक सिंह प्रतिष्ठित है। सिंहांकित ध्वज या स्तम्भ बलरामकी और भी दूसरे स्थानोंसे मिली हुई लगभग समकालीन मूर्तियोंमें पाया गया है, जिसका एक अच्छा उदाहरण भारत कलाभवन (काशी)में सुरक्षित है।

वस्तुतः काशीकी मूर्तिमें जो सिंह है उसके धड़का पिछला भाग लम्बी पूंछकी आकृतिवाला है। इस प्रकारके पूंछड़िया सिंहके

लिये प्राचीन पारिभाषात्मक शब्द 'सिंहलांगूल' है। महाभारत द्रोणपर्वमें प्रमुख वीरोंकी ध्वजाओंमें अंकित रूपों या चिह्नोंका वर्णन किया गया है। इस सूचीके अनुसार द्रोणके पुत्र अश्वत्थामा की ध्वजा पर सिंहलांगूलका लक्ष्म या चिह्न बना हुआ था (द्रोण० १०५ १०)। भीष्मपर्व (१७ २१)मे भी अश्वत्थामाके सिंहलांगूल केतुका उल्लेख हुआ है।[1] बलरामके साथ सिंहलांगूल केतुका सम्बन्ध किन्हीं कारणोंसे कुषाणकालमें स्थिर हो चुका था, जैसा कि उपलब्ध मूर्तियोंसे जाना जाता है, लेकिन इसमें क्या हेतु था इसका स्पष्ट कारण नहीं ज्ञात होता।

कुषाणकालसे ही बलरामकी मूर्तियोंका एक विशेष लक्षण मिलने लगता है और वह है वैजयती या वनमाला। कुषाणकाल या उसके बादकी प्राय सभी बलरामकी मूर्तियोंमें यह चिह्न पाया जाता है। कुषाणकालीन बलरामकी मूर्तियोंमें केवल दो हाथ मिलते हैं और उनकी मुद्रा नागमूर्तियोंसे प्राय मिलती है, अर्थात् दाहिना हाथ सिर के ऊपर उठा हुआ और बायाँ वारुणीपात्र लिये हुए। इस प्रकारकी एक मूर्ति मथुरा संग्रहालयमें 'सी १५' संख्यक है, जिसे ग्राउसने बलराम और वोगलसे नाग कहा है, किन्तु वनमालाके कारण ग्राउसका कथन ही उपयुक्त जान पड़ता है। इस मूर्तिकी वेशभूषासे ज्ञात होता है कि यह कुषाण और गुप्त-कालके मध्य की है। (मथुरा स १३९९) बलरामको चतुर्भुजी अंकित किया गया है। खंडित हो जाने के कारण मूर्तिमें आयुध स्पष्ट नहीं है। संग्रहालयकी एक अन्य मूर्ति (मथुरा स आर ४६) में चतुर्भुजी बलरामके दो अतिरिक्त हाथोंमें मूसल और हल दिए गए हैं। यह मूर्ति लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दीकी है।

जैन मूर्तिशास्त्रके अनुसार नेमिनाथकी मूर्तियोंमें बलराम और कृष्ण पार्श्वचरोंके रूपमें अंकित किए जाते हैं। मथुरा संग्रहालयकी नेमिनाथकी यक्षिणी अम्बिका देवीके ऊपरी भागमें हल मूसल लिए

[1] और भी देखिए, द्रोणपर्व (२५ ३०)

हुए बलदेव और चतुर्भुजी वासुदेवकी मूर्तियाँ बनी हैं (वोगलकृत मथुराका सूचीपत्र, डी ७, फलक १७)। कंकाली टीलेसे प्राप्त नेमिनाथकी एक मूर्ति (लखनऊ सं. जे ५८)में ठीक इसी प्रकार बलदेव और वासुदेवकी मूर्तियाँ पार्श्वचरके रूपमें पाई गई हैं। मूर्ति पूर्वमध्य कालकी है (स्मिथ, जैन स्तूप, फलक ९८)।

कंकाली टीलेसे ही प्राप्त लखनऊ संग्रहालयकी एक अन्य गुप्तकालीन नेमिनाथमूर्तिमें बलराम और कृष्ण पार्श्वचरोंके स्थान पर अंकित हैं। बलराम की मूर्तिमें एक ओर 'सिहलांगूल'का चिह्न विद्यमान है।

विष्णु

भारतीय त्रिदेव मूर्तियोंमें विष्णु सृष्टिके पालनकर्ता माने गए हैं। मथुराकी शिल्पकलामें विष्णुकी मूर्तियाँ पर्याप्त संख्यामें मिली हैं। उनका समय कुषाणकालसे मध्यकाल तक है। कटरा केशवदेवसे विष्णुकी गुप्तकालीन कई मूर्तियाँ मिली हैं। उस समय वहाँ विष्णुका एक विशाल मंदिर था, जिसके कई खंडित पत्थर खुदाईमें मिले हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीयका एक लेख भी यहाँसे मिला था, जिससे उस सम्राटके द्वारा इस स्थान पर कुछ निर्माणकार्य होनेका अनुमान होता है। संभावना यही है कि कटरा केशवदेवकी भूमि पर विष्णुका एक मंदिर गुप्तकालमे सम्राटकी प्रेरणासे बनवाया गया हो। मंदिरके देवकी संज्ञा केशवपुर स्वामी रही होगी। आज भी इस स्थानको केशवपुरा मुहल्ला कहते हैं। देवगढ़के गुप्तकालीन दशावतारमंदिरके एक लेखमें भागवत गोविन्दके केशवपुर स्वामीके चरणोंमें स्तम्भदानका उल्लेख है। भागवत गोविन्द चन्द्रगुप्तके पुत्र गोविन्दगुप्त जान पड़ते हैं, जिनका उल्लेख वैशाली-मुद्रामें और मालवासे प्राप्त एक नवीन शिलालेखमें 'भागवत गोविन्दगुप्त' के रूपमें मिलता है। गोविन्दगुप्त मालवा के गोप्ता थे, तभी उन्होंने अपने पिताके बनवाए हुए मूल मथुरास्थित केशवपुर स्वामीके विष्णुमंदिरके अनुकरणसे देवगढ़में भी वैसे ही एक मंदिरका निर्माण कराया जान पड़ता है। कटरेसे

थोडी दूर कंकाली टीले पर भी विष्णुका एक मंदिर था, ऐसा वहाँसे प्राप्त मूर्तियोंसे ज्ञात होता है। लखनऊ संग्रहालयमे सुरक्षित एक बडी चतुर्भुजी मूर्ति (एच १११) इस सबंधमें विशेष उल्लेखनीय है। मथुरासे तीन मील दूर पालीखेडा गाँव धार्मिक उदारताका आदर्श केन्द्र था। वहाँसे कुषाण और गुप्तकालीन विष्णुकी बहुत-सी मूर्तियोंके साथ साथ गजलक्ष्मी, शिवपार्वती, कुवेर-हारीती, सूर्य, सप्तमातृका, बुद्ध, मैत्रेयकी मूर्तियाँ भी मिली हैं। पालीखेडामें महासांघिक बौद्धोंका बडा विहार था और जान पडता है कि भक्तिधर्मके अनुयायी महासांघिक सम्प्रदायके लोग अन्य धर्मो के प्रति बहुत ही उदार भावना रखते थे।

विशिष्ट मूर्तियॉ

विष्णुकी मूर्तियाँ रचनाशैलीकी दृष्टिसे तीन प्रकारकी हैं एक कुषाणकालकी, दूसरी गुप्तकालकी और तीसरी मध्यकालकी। इनमें मूर्तिके विकासकी दृष्टिसे कुषाणकालीन मूर्तियाँ सबसे अधिक महत्त्वकी हैं। उनमें विष्णुके आयुध पूरी तरह निश्चित नहीं हो पाए है। यद्यपि सभी मूर्तियाँ चतुर्भुजी है, किन्तु अगले दो हाथोंमे से दाहिना हाथ अभयमुद्रामें और बायाँ तिकोना अमृतघट लिये हुए है। अमृतघटकी गर्दन लम्बी, पेटा गोल-लम्बोतरा और पेंदा तिकोना है। अमृतघटकी यह आकृति कुषाणकालीन बोधिसत्त्व, विशेषकर मैत्रेय, के अमृतघटसे मिलती है। वस्तुत यदि पिछले दो हाथ मूर्तिमे से हटा दिये जायँ तो मूर्तिकी आकृति और लक्षण बोधिसत्त्वकी मूर्तियोंमे मिल जाते है। हाथमे जलपात्र या अमृतघट इस समयकी देवमूर्तियोंकी विशेषता है। विशेषकर शिवकी मूर्तियोंमे अन्य आयुधोंके साथ अमृतघट भी मिलता है। वेमकफके सिक्कों पर शिव दाहिने हाथमें त्रिशूल, परशु और बाएँमे जलपात्र लिये हुए हैं।[1] हुविष्कके सिक्कों पर भी चतुर्भुजी शिवने आयुधोंमे एक अमृतघट

[1] इण्डिया सोसाइटी ऑफ ओरिएण्टल आर्टकी पत्रिका, १९३७, पृ १२४, फलक १४, चित्र ३।

है। सम्राट वासुदेवके सिक्कों पर चतुर्भुजी शिवके हाथोंमें पाश, त्रिशूल, व्याघ्रचर्मके अतिरिक्त चौथा लक्षण जलपात्र या अमृतघट है।

इस प्रकारकी विष्णुमूर्तियोंमें कुषाणकालीन एक छोटा-सा शिलापट्ट है, जो बहुत ही मार्केका है (मथुरा सं. २८२०)। इस पर चार मूर्तियाँ अंकित हैं:—

(१) अर्धनारीश्वर—दाहिना भाग पुरुष और बायाँ भाग स्त्रीका। मूर्तिके दो हाथ हैं: दाहिना अभयमुद्रामें और बायाँ गोल दर्पण लिये हुए। ऊर्ध्वरेत-लक्षण मूर्तिकी विशेषता है। बाईं तरफ़के भागमें स्तन प्रदर्शित हैं। दाहिनी ओर बाईं ओर के मेखला भाग भी भिन्न हैं। एक ओर चपटी पट्टी है तो दूसरी ओर चपटे दानोंकी तिलड़ी मेखला है।

(२) चतुर्भुजी विष्णु—विष्णुके बाईं ओर एक लम्बी गदा है, जिसका स्थूल भाग ऊपरकी ओर है। सभी कुषाणकालीन गदाओंमें गदाकी मुठिया नीचेकी ओर और पेंदी ऊपरकी ओर होती है। बाएँ हाथमें चक्र है। दोनों तरफ़ के अगले हाथ, जैसा कि ऊपर कहा गया है, बोधिसत्त्व-मूर्तियोंकी तरह अभयमुद्रामें अमृतघट संयुक्त हैं। मूर्तिकी वेषभूषा ठेठ कुषाणकालीन है, अर्थात् मुकुट, फेंटेदार धोती और कुछ आभूषण पहने हैं। मूर्तिके बाईं ओर एक छोटा-सा वाहन है, जो स्पष्ट नहीं है।

(३) तीसरी मूर्ति गजलक्ष्मीकी है। मूर्तिके दो भाग हैं: दाहिना हाथ अभयमुद्रामें और बायाँ सनाल कमल लिये हुए है। मूर्तिके सिरके ऊपर दो छोटे हाथी आमने-सामने बने हुए हैं। मूर्तिके बाएँ पैरके पास उसके वाहन हाथीका मस्तक है।

(४) चौथी मूर्ति कुबेरकी है। दाहिना हाथ अभयमुद्रामें और बायाँ हाथ थैली लिये हुए है। बाईं बगलके नीचे खड़ा हुआ एक दंड है। मूर्तिकी आकृति विष्णुके जैसी है और इसमें कुबेरके तुंदिल लक्षणका अभाव है।

इस प्रकार इस प्रतिमापट्ट पर उस युगके प्रमुख देवताओंका

चित्रण है। यह पट्ट उस कालकी धार्मिक सहिष्णुता और मूर्तिपूजाके क्षेत्रमे धार्मिक भावोंकी उदारताको बडे प्रामाणिक ढगसे प्रकट करता है।

ऊपरके मूर्तिपट्टमे विष्णुका जो प्रारम्भिक रूप है उसीके सदृश कई स्वतत्र मूर्तियाँ कुषाणकालकी कलामे पाई गई है। उनमे दो-एक मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय है। मथुरा स ९३३की चतुर्भुजी मूर्ति पिछले हाथोंमे गदा और चक्र लिये हुए है और अगले हाथ, ऊपर लिखे अनुसार, अभयमुद्रामे और अमृतघटके साथ है। सिर पर मुकुट और गलेमें एक चौडी माला है। वस्तुत यह फूलपत्तियोंकी बनी हुई वनमाला जान पडती है, जो मथुरा सग्रहालय १७०९ सख्यक विष्णुमूर्तिमें बहुत स्पष्ट है। इसे गुप्त-कालीन वैजयन्तीमालाका पूर्वरूप कहा जा सकता है। मूर्ति स ७४८७ चतुर्भुजी विष्णुकी कुषाणकालीन पूरी मूर्ति है। इसके अगले बाएँ हाथमे अमृतघटके स्थान पर शख है। ज्ञात होता है कि शीघ्र ही कुषाणकालमे आयुधोंका यह विकास पूरा हो गया था। पालीखेडा गाँव विष्णु-मूर्तियोंका केन्द्र था। वहाँ एक अष्टभुजी मूर्ति मिली है, जिसके दाहिनी ओरके चार हाथ सुरक्षित हैं। तीन हाथों मे क्रमश पत्थरकी शिला, शक्ति, और दड हैं। चौथा हाथ छातीकी ओर मुडा हुआ है। यह विश्वरूप या विराट्रूपधारी विष्णुकी मूर्तियोंमे सर्वप्रथम मूर्ति है। कुषाणकालकी यह अकेली ही इस प्रकारकी बहुभुजी मूर्ति है। कुषाणकालमे शिव और विष्णुकी मूर्तियोंमे आयुधोंके लक्षण अभी विकासकी अवस्थामे थे। हुविष्कके एक सोनेके सिक्के पर चतुर्भुजी शिव त्रिशूल, वज्र, चक्र और मृग या अज लिये हुए हैं।[१] एक दूसरी मोहर पर, जिसे कनिंघमने हुविष्कके समयका माना था, एक उदीच्य वेष-धारी विदेशी सम्राट् चतुर्भुजी विष्णुको अपनी अजलि भेंट कर रहा है। विष्णुके अगले हाथ गदा और चक्र पर टिके हुए हैं।

१ बैनर्जी, वही, पृष्ठ १३०।

पिछले बाएँ हाथमें शंख और दाहिनेमें गोल माला है।[1] हमारे विचारमें यह मूर्ति रचनाशैलीकी दृष्टिसे आरम्भिक गुप्तकाल अर्थात् चौथी शताब्दीकी होनी चाहिए। मथुरा संग्रहालयकी मूर्ति सं. ९५६ भी कुषाणकालीन चतुर्भुजी विष्णु है, किन्तु उसका मुकुट इन्द्रकी मूर्तियोंसे मिलता है, जिसमें सामनेकी ओर खड़ी हुई बाड़ है।[2] मूर्ति सं. ९१२में भी विष्णुका मुकुट इन्द्र जैसा है। मुकुटकी यह शैली आगेकी कुछ मूर्तियोंमें चालू रही, जैसा कि उत्तर-कुषाणकालीन मूर्ति सं. ७८१से ज्ञात होता है।[3] इन्द्र और विष्णुकी मूर्तिमें इस सादृश्यका एक कारण था। प्राचीन धार्मिक मान्यताके अनुसार विष्णु इन्द्रके छोटे भाई (इन्द्रावरज) कहे गए हैं।

विष्णुकी गुप्तकालीन मूर्तियाँ कलाकी दृष्टिसे बहुत ही सुन्दर हैं। इनमें सर्वोत्तम मूर्ति मथुरा संग्रहालयमें ई ६ संख्यक है। मूर्ति चतुर्भुजी थी, किन्तु अब बाहोंके अगले भाग खंडित हैं। मूर्तिके सिर पर पत्रलताके कटाव और मोतियोंके लटकन और बन्दनवारोंसे अलंकृत किरीट मुकुट है। किरीटके सम्मुखी भागमें दो मकरमुखोंको जोड़कर बनाया हुआ सुन्दर मकरिका-आभूषण है। उसके ऊपर मुकुट-भागमें सिहमुख है। यह सिंहमुख मुक्ताजाल-का उद्गिरण करते हुए बनाया गया है। अन्य आभूषणोंमें कानोंमें कुंडल, गलेमें स्थूल आमलकी फलके सदृश इकहरी मोतीमाला और उसके नीचे छोटे मोतियोंका गुच्छकहार, कंधे पर स्वर्णयज्ञो-पवीत, बाहोंमें अंगद और सामने वैजयंतीमाला और मेखला पहने हुए हैं। अंतर्मुखी ध्यानमें लीन भावमुद्रा इस मूर्तिकी विशेषता है —मानो कलाकारने समाधिगृहीत शक्ति और शांति एक साथ ही विष्णुकी मुखाकृति द्वारा प्रकट की है। परमभागवत गुप्तसम्राटोंकी

---

१. बैनर्जी, वही, पृष्ठ १८३। कनिंघम, कॉयन्स ऑफ लेटर इंडो-सीथियन्स, पृष्ठ ३४, फलक ३।

२. डिस्कालकर, मथुरा संग्रहालयकी ब्राह्मण मूर्तियाँ, युक्तप्रांतीय इतिहास परिषदकी पत्रिका, जनवरी, १९३२, फलक २, चित्र ३।

३. डिस्कालकर, वही, फलक १, चित्र ३।

प्रेरणासे गुप्तकालीन महाप्रजाओंने जिस प्रकारके आदिपुरुषका आवाहन विष्णुके रूपमे किया था, उसका आभास बहुत अशोंमे कलाकारने इस सुदर प्रतिमा द्वारा व्यक्त किया है।

आयुधोंकी दृष्टिसे गुप्तकालीन मूर्तियाँ दो प्रकारकी हैं। पहले वर्गकी मूर्तियोंमे शख, चक्र, गदा और पद्म अपने निजी रूपमे दिखाए गए हैं और दूसरे वर्गकी मूर्तियोंमें वह पुरुष-विग्रह या आयुधपुरुषोंके रूपमे दिखाए गए हैं। पहले प्रकारकी मूर्तियोंके उदाहरण निम्नलिखित हैं —

(१) मिट्टी की मूर्ति (मथुरा स २४७३)—इसमे ऊपरके दो हाथोंमे पद्म और शख हैं और पिछले दो हाथ पृथ्वी पर रखे हुए चक्र और गदा नामक आयुधोंको पकडे हुए है।

(२) ककाली टीलेसे प्राप्त विष्णु (लखनऊ स एच १११)—इसके हाथोंमे भी आयुध निजी रूपमे थे, जिनमेसे अब केवल शख बच गया है।

(३) मूर्ति स ५१२—इस चतुर्भुजी मूर्ति मे दाहिनी ओर गदा और बाईं ओर चक्र है, जिन्हें विष्णु दो हाथोंसे पकडे हुए हैं। कमल और शख पूर्ववत् हैं। विष्णुके पैरोंके पास सामने एक खडी हुई स्त्रीमूर्ति है, जो भूदेवीकी मूर्ति हो सकती है, यद्यपि निश्चित रूपसे उस समय तक इस प्रकार भूदेवीका सम्बन्ध विष्णुके साथ स्थिर होनेमे सदेह है। मूर्तिकी खडे होनेकी मुद्रा कुछ उसी प्रकारकी है जैसी कि बुद्ध-मूर्तियोंमे सामनेकी ओर उकेरी हुई वसुधरा या पृथ्वीकी होती हैं।

गुप्तकालकी दूसरे प्रकारकी मूर्तियोंमें गदा और चक्र पुरुष-विग्रहमे दाहिने और बाएँ पार्श्वचर रूपमे अकित पाए जाते हैं। दोनोंके मस्तक पर या पीछे अपने-अपने निजी रूपमे आयुध अकित हैं। मनुष्यके विग्रहमे आयुधोंका चित्रण गुप्तकालमे पहली बार शुरू हुआ। महाकवि कालिदासने अपने समयकी इस विशेषताका बडे स्पष्ट शब्दोंमे उल्लेख किया है—

गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः।

जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलांछितमूर्तिभिः ॥ (रघु० १०.६०)

अर्थात्, जब कौशल्या आदिक रानियोंके गर्भमें विष्णुके तेजने प्रवेश किया, तब उन्होंने स्वप्नमें यह देखा कि वामनाकृति विष्णुके आयुध-पुरुष उनकी रक्षा कर रहे हैं। कमल, खड्ग, गदा, धनुष और चक्र, जिस आयुधका जो पुरुष था वह उसीकी मूर्तिसे लांछित था, अर्थात् वह चिह्न उसके ऊपर बना हुआ था। इस श्लोकमें दो बातें कही गई हैं। एक तो जो प्रधान देवताकी मूर्ति थी, उसकी तुलनामें आयुधपुरुषोंकी मूर्तियाँ आकारमें छोटी या ठिंगनी थीं; दूसरी बात यह कि पार्श्वचरोंकी इन बौनी मूर्तियोंके ऊपर उस-उस आयुध के चिह्न भी बनाए जाते थे। ये दोनों विशेषताएं मथुरासे प्राप्त गुप्तकालीन विष्णु मूर्तियोंमें स्पष्ट दिखाई देती हैं।

कटरा केशवदेवसे, जहाँ गुप्तकालमें विष्णुमंदिर था, प्राप्त हुई सिरदलके पत्थर पर बैठी हुई एक विष्णुमूर्तिमें बाईं ओर चक्रलांछित पुरुष और दाहिनी ओर एक स्त्रीकी मूर्ति है, जिस पर गदाका चिह्न बना हुआ था (मथुरा सं. के. टी. १९१)।

एक दूसरी मिट्टीकी मूर्तिमें (मथुरा सं. २४१९) चक्र दाहिनी ओर और गदा बाईं ओर अपने-अपने आयुधोंसे चिह्नित अवस्थामें अंकित हैं। इस मूर्तिमें विष्णुके सिरके बाईं ओर वराहका मस्तक है और दाहिनी ओर नृसिंहका मस्तक था, जो अब टूट गया है। डी. २८ विष्णुमूर्तिमें वराहमुख दाहिनी ओर और सिंहमुख बाईं ओर अंकित हैं। इसी प्रकार वामनाकृतिमें चक्र बाईं ओर और गदा दाहिनी ओर खड़ी दिखाई गई है। मथुरासे प्राप्त मूर्तियोंमें पर्याप्त सख्या उन मूर्तियोंकी है जिनमें वराह और नृसिंह मुखोंसे संयुक्त विष्णु की कल्पना की गई है। इनमें सर्वोत्तम मूर्ति (मथुरा सं. २५२५) है, जो अपने अलंकरण और रचनासौष्ठवके लिये विष्णु-मूर्ति (सं. ई ६)का अनुकरण करती है। बाणभट्टने जाबालिके आश्रमका वर्णन करते हुए विष्णुके इस स्वरूपका उल्लेख किया है—

असुरारिमिव प्रकटितवराहनरसिंहरूपम्।

अर्थात् जावालिके इस आश्रममें सुअर और शेर दोनों दिखाई पडते थे। उसकी यह विशेषता विष्णुके वराहनृसिंहरूपके सदृश थी।

गुप्तकालमें नृसिंहरूप और वराहरूपमें विष्णुकी और भी मूर्तियाँ मिली हैं, किन्तु मथुरामें अभी तक उनका कोई उदाहरण नहीं पाया गया। नृसिंह-वराहरूपी विष्णुकी एक अत्यंत विशिष्ट गुप्तकालीन मूर्ति अलीगढ जिलेसे हाल ही में प्राप्त हुई थी (मथुरा म २९८९)। मूर्तिकी रचनाशैली ठेठ मथुराकी है। मूर्तिके पीछे एक बहुत बड़ा प्रभामंडल था, जिस पर नवग्रह, सप्तर्षि और सनक, सनन्दन, सनातनल, सनत्कुमार इन चार ऋषिपुत्रोंकी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

विष्णुके अवतार

कटरा केशवदेवके गुप्तकालीन विष्णुमंदिरसे सम्बंधित एक खम्भेके टुकडे पर एक दृश्य अंकित है, जिसमें त्रिविक्रम अवतारमें विष्णु अंकित किये गए हैं (मथुरा स संख्या २६६४)। विष्णुका एक पैर पृथ्वी पर टिका है और दूसरा पैर एक मस्तकमात्र रूपमें अवशिष्ट असुरके मुखमें प्रविष्ट है। यह असुरमुख ब्रह्माण्डका प्रतीक कहा जाता है, जिसकी नाप लेनेके लिये विष्णुने अपना चरण उठाया था। मस्तकके ऊपरके कोनेमें अंजलिमुद्रामें जाम्बवत और नीचे पृथ्वी देवीकी मूर्ति है।

त्रिविक्रम अवतारसे उत्कीर्ण एक दूसरा शिलापट्ट भी मथुरासे पहले प्राप्त हो चुका है (मथुरा म आई १९)। इसमें विष्णुके सामने एक दृश्यमें वामनाकृति पुरुष-व्यक्तिके हाथमें राजा बलि कमंडलुसे संकल्प छोड़ते हुए दिखाए गए हैं। आँख फाडे हुए असुराकृति मुख और उसमें प्रविष्ट विष्णुका पैर इस मूर्तिमें भी उसी तरह है। विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें, जो लगभग गुप्तकालकी ही रचना है, लिखा है—

एकोर्ध्ववदनः कार्यो देवो विस्फारितेक्षणः।

अर्थात् त्रिविक्रमकी मूर्तियोंमें एक विस्फारित नेत्रवाला देवमुख बनाना चाहिए। विष्णुके दाहिने पैरसे लिपटी हुई एक छोटी-सी पुरुष-मूर्ति है, जो गोपीनाथरावके अनुसार नमुचिकी[1] मूर्ति हो सकती है। विष्णुके पीछे दंड लिये हुए एक स्त्री-मूर्ति खड़ी हुई है, जो प्रतिहारीकी हो सकती है। इसी मूर्तिके सदृश एक त्रिविक्रम-मूर्ति बादामीसे प्राप्त हुई थी।[2]

मध्यकालीन विष्णु-मूर्तियाँ मथुराकी तरह और भी अनेक स्थानोंमें बनने लगी थीं, किन्तु दो मूर्तियाँ विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। ये दोनों पद्मासन और ध्यानमुद्रामें बैठी हुई चतुर्भुजी मूर्तियाँ हैं। मूर्ति सं. डी ३७में दोनों ओर बहुत-से पार्श्वचरों और चरण-चौकी पर नागकन्याओंके बीचमें पृथ्वीकी मूर्ति है। विष्णुके मस्तकके पीछे कमलपत्रांकित शिरश्चक्र उत्कीर्ण है, जिसके तीन तरफ़ तीन रथिकाओंमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव दिखलाये गए हैं। दूसरी मूर्तिमें पहलीकी अपेक्षा 'परिकर'की संख्या परिमित है और उसकी चौकी पर शंखकी आकृति बनी है।

शेषशायी विष्णुकी भी एक मूर्ति (मथुरा सं. संख्या २५७) मथुरासे मिली है। उसकी कोई निजी विशेषता उल्लेखनीय नहीं है। मध्यकालकी मूर्तियाँ शिल्पके लक्षणग्रंथोंके अनुसार बनने लगी थीं और उस समय कलाके विशिष्ट केन्द्र मथुरासे अन्यत्र स्थापित हो चुके थे।

५. शिव

मथुरासे प्राप्त शिवकी बहुसंख्यक मूर्तियोंसे यह बात स्पष्ट रूपसे ज्ञात होती है कि लगभग प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्वसे

---

१ गोपीनाथराव: हिन्दू मूर्तिशास्त्र, भाग १, पृ. १६६ (पादपद्मे नमुचिम्, वैखानसागम)।

२. पश्चिमी भारतकी पुरातत्त्व-रिपोर्ट, फलक २१, गोपीनाथराव: हिन्दू मूर्तिशास्त्र, पृ. १७४।

३. कनिंघम: कॉइन्स ऑफ दी इंडोसीथियन्स एण्ड कुशान्स, फलक १५, चित्र ११।

पाँचवीं शताब्दी तक मथुरा शैवोंका या शिव-पूजाका एक बहुत बड़ा केन्द्र था। पतञ्जलिके महाभाष्यमें शिव भागवत सम्प्रदायका उल्लेख आया है। वैष्णवोंके भागवत या पाञ्चरात्र सम्प्रदायके सदृश शिव-भागवत सम्प्रदायमें भी भक्ति धार्मिक भावनाका मुख्य आधार रही होगी। इन लोगोंने विष्णुकी मूर्तिके स्थान पर शिवको ही अपना पूज्य और आराध्य मानकर शिवकी मूर्तिका निर्माण किया। भक्तिप्रधान शैवोंका पाशुपत शैवोंके साथ अवश्य घनिष्ठ सम्बध रहा होगा। कुषाणकालसे ही मथुरामें शिवकी जो मूर्तियाँ मिलती हैं उनके दो भेद हैं एक पुरुष विग्रहमें और दूसरी लिंग-विग्रहमें। मूर्तिके ये दो भिन्न प्रकार एक ही सम्प्रदायके अतर्गत किन दो भिन्न धाराओंसे प्रेरित हुए थे इसका स्पष्ट कारण अब हमें ज्ञात नहीं, किन्तु दोनोंकी मान्यता, प्रतिष्ठा और प्रामाणिकता एक-जैसी ही जान पड़ती है। कुषाणवंशीय सम्राट् कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव एव उनके पूर्ववर्ती सम्राट वेमकदफ्सने अपने अनेक सिक्कों पर अपने लिये 'माहेश्वर' विरुद प्रयुक्त किया है। इस सम्राटने लाखों सिक्के ढलवाए होंगे। उसके उपलब्ध सभी सिक्कों का सम्बध किसी-न-किसी रूपमें शिवके साथ पाया जाता है। वेमके समयसे भी पहले शिवकी पूजा अस्तित्वमें आ चुकी थी। उज्जयिनीके सिक्कों पर तीन शिरवाली शिवमूर्ति अंकित है, जिसकी पहचान महाकालसे की गई है। पजाबमें औदुम्बर राजाओंके सिक्कों पर (द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई० पू०) परशु—कुठारसे सयुक्त, ध्वजाओंसे पुरस्कृत शिवमदिर या मडप अंकित है। प्रथम शती ईस्वीके कुणिन्दके सिक्कों पर भी त्रिशूल, कुठार लिये हुए शिव की मूर्ति अंकित है। पार्थियन राजा गुन्फरके सिक्कों पर भी त्रिशूल, कुठार लिये हुए शिवकी मूर्ति पाई गई है। सम्भवत शिवभक्त होनेके कारण इस सम्राटके सिक्कों पर 'देवव्रत' यह उपाधि प्रयुक्त हुई है।

वेमकी मुद्राओं पर अंकित शिवमूर्ति द्विभुजी है, दाहिना हाथ त्रिशूल या त्रिशूल-कुठार लिये हुए और बायाँ हाथ जलपात्र या

अमृतघट लिये है। वेमके एक तांवेके सिक्के पर शिवके कई सिर ज्ञात होते हैं।

कनिष्क और हुविष्कके समयमें शिवकी मूर्तियोंका रूप वदला। दो हाथोंके अतिरिक्त चतुर्भुजी रूप भी अंकित होने लगा। कनिष्क और हुविष्कके कुछ सिक्कों पर चतुर्भुजी शिवके हाथोंमें वज्र और अमृतघटके साथ अंकुश भी है। किन्हीं सिक्कोंमें एक हाथमें पाश है। हुविष्कके कुछ सिक्कों पर शिवकी चतुर्भुजी मूर्तिके तीन मुख हैं, अर्थात् वह पंचमुखी या पंचानन शिवको व्यक्त करती है। गार्डनरके अनुसार ब्रिटिश म्यूज़ियममें हुविष्ककी एक सुवर्णमुद्रा पर शिव अज पकड़े हुए हैं। हुविष्कके कुछ सिक्कों पर शिवके साथ महादेवीकी मूर्ति मिली हुई है। ननाकी ठीक पहचान इसी सम्राटके एक दूसरे सिक्केसे की जा सकती है, जिसमें ननाके लिये उमोओ (Umoo)[1]का प्रयोग हुआ है। कनिष्क और हुविष्कके सिक्कों पर शिवके साथ उनके वाहन नन्दीका प्रायः अभाव है, किन्तु उनके उत्तराधिकारी वासुदेवकी शिवांकित मुद्राओं पर शिवकी मूर्ति नंदी-वाहनके साथ है। शिवके आयुध त्रिशूल और पाश हैं। कनिंघमको सम्राट् वासुदेवकी एक विशेष सुवर्णमुद्रा मिली थी, जिस पर चतुर्भुजी शिव अमृतघट, पाश, त्रिशूल और व्याघ्रचर्म लिये हुए हैं, और वाहन नंदीके गलेमें घंटी वॅधी है। शिवके साथ पाशका संबंध पाशुपत सम्प्रदायकी ओर संकेत करता है। चन्द्रगुप्त द्वितीयके मथुरासे मिले हुए भैरवांकित स्तम्भलेखसे विदित होता है कि मथुरामें चौथी शताब्दीमें पाशुपत शैवोंका एक बड़ा अड्डा था। इस लेखमें एक मूर्तिकी स्थापना करनेवाले दो शैव आचार्योंकी दस पीढ़ियोंका उल्लेख है। डॉ० भंडारकरका अनुमान है कि शैव आचार्योंकी यह परम्परा कुषाणकाल तक पहुँचती है; अर्थात् प्रथम

---

१. रेप्सन, जर्नल ऑफ़ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (१८९७), पृ ३२४; और भी देखिए, पंजाब म्यूजियम केटेलॉग, भाग १, पृ. १९७, फलक १८, मुद्रा १३६।

शताब्दीके लगभग मथुरामें पाशुपत सम्प्रदायका विशेष प्रभाव हो गया था। कुषाणकालीन शिवमूर्तियोंका एक विशेष लक्षण ऊर्ध्वलिंग है। जैसा कि हम ऊपर वर्णित चार मूर्तियोंके पट्टमें देख चुके हैं, शिवकी अर्धनारीश्वर-मूर्तियोंमें भी ऊर्ध्वलिंगकी यह विशेषता अंकित की गई है। ईसापुर गाँवसे मिली हुई एक छोटी अर्धनारीश्वर मूर्ति (मथुरा सं ८००) पर वृष-वाहनके सहारे खड़े हुए शिवके दक्षिणार्ध भागमें ऊर्ध्वलिंग विशेषता है और वामार्ध स्त्री-विग्रहसे युक्त है और बाएँ पैरमें कटक पहने है। मूर्ति लगभग प्रथम शताब्दी ईसवीकी है।

कुषाणकालीन दो मूर्तियाँ विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं, जिनमें शिव और पार्वती दम्पतीभावमें एक दूसरेके गलेमें बाँह डाले हुए साथ खड़े हैं। शिवका दाहिना हाथ अभयमुद्रामें और पार्वतीका बायाँ हाथ कट्यवलम्बित है। मूर्तिके गलेमें कंठा, कानोंमें कुंडल और सिर पर टोपीकी तरह केश ढंके हुए हैं। मूर्तिके सब लक्षण कुषाणकालीन साधारण दम्पती जैसे हैं, केवल पुरुषका ऊर्ध्वलिंग-लक्षण इसे शिवमूर्ति प्रमाणित करता है। दूसरी मूर्ति (मथुरा सं संख्या २४९५) इसीसे मिलतीजुलती है, और उसमें भी पुरुषको ऊर्ध्वरेत अंकित किया गया है, किन्तु उस मूर्तिका असंदिग्ध शैव-संबंध पीठ पीछे अंकित नंदीरूपकी मूर्तिसे ज्ञात होता है। ऊर्ध्वलिंग-लक्षणसम्पन्न ये शिवमूर्तियाँ पाशुपत सम्प्रदायकी ओर संकेत करती हैं।

पाशुपत शैव सम्प्रदायमें लिंगविग्रह और पुरुषविग्रह इन दोनोंकी मान्यता एक जैसी रही होगी, ऐसा कुषाणकालीन मूर्तियोंमें ज्ञात होता है। इनमें सबसे पुष्ट प्रमाण एक शिवलिंग मूर्ति है। इसमें पीछे शिवलिंग और सामनेकी ओर शिवकी चतुर्भुजी, सम्पूर्ण पुरुषविग्रहधारी मूर्ति है। मूर्तिके अतिरिक्त दो हाथ सिरके ऊपर उठे हुए भारी जटाजूटको रोके हुए हैं। स्वाभाविक दाहिना हाथ अभयमुद्रामें और बायाँ कटिविन्यस्त मुद्रामें है। मूर्ति ऊर्ध्वलिंग-लक्षणसे संयुक्त

है। दाहिने पैरके पास एक ठिगना पार्श्वचर या गण है। मूर्ति कुषाणकालीन है। इस विशिष्ट मूर्तिकी कल्पना बहुत कुछ दक्षिण-भारतके गुडिमल्लम स्थानसे प्राप्त पुरुषविग्रहसे अलंकृत शिवलिंगके साथ मिलती है। वह मूर्ति ई. पू. प्रथम शताब्दीके लगभगकी है और उसके दाहिने हाथमें एक मेष है जिसका मुँह नीचेको लटका हुआ है और बाएँ हाथमें एक छोटा जलपात्र है। बाएं कंधे पर एक फरसा है। मूर्ति एक यक्ष या राक्षसके कंधों पर पैर रखे खड़ी है। श्री गोपीनाथरावके अनुसार वह अपस्मार पुरुष है, जिसका सम्बन्ध कालांतरमें नटराजकी मूर्तियोंके साथ पाया जाता है।[1]

मथुराकी और सुदूर दक्षिणमें प्राप्त गुडिमल्लमकी दोनों मूर्तियाँ, जिनमें लिंगविग्रह और पुरुषविग्रह दोनोंका संयुक्त रूप एक साथ पाया जाता है, धार्मिक दृष्टिसे अवश्य एक दूसरेके साथ सम्बन्धित होनी चाहिए। यही अनुमान होता है कि पाशुपत शैवधर्मकी एक शाखा दक्षिणमें गुडिमल्लम तक फैली हुई है।

इसी प्रकार उपर्युक्त मूर्तिका ही विकास एकमुखी शिवलिंगके रूपमें व्यक्त होता है, जिसके कई उदाहरण कुषाणकालमें पाए गए हैं। इन सबमें विशिष्ट मथुरासे मिली हुई (बी. १४१) मूर्ति है, जो इस समय लखनऊके संग्रहालयमें है। इस मूर्तिमें एक वटवृक्षकी छायामें पक्की ईंटोंके बने हुए स्थंडलिया चबूतरे पर एकमुखी शिवलिंग स्थापित दिखाया गया है। चबूतरेके सामने उसकी ओरको पीठ किये हुए दो बौने हैं, जिनमेंसे पहला हाथ बढ़ाए हुए एक तीसरी मूर्तिसे, जो अब टूट गई है, कुछ ग्रहण करता हुआ दिखलाया गया है। किस प्रकार जंगलोंमें खुले पेड़ोंके नीचे या रुक्खचेतियके समीप शिवलिंगोंकी पूजा की जाती थी, जैसाकि आजतक प्रायः होता है, यह मूर्ति इस बातका बहुत सुन्दर उदाहरण है। कुषाणकालीन एक दूसरे शिलापट्ट पर दो उदीच्यवेषधारी पुरुष हाथोंमें फूलमाला लिये हुए एक ऊँची पिंडिका पर स्थापित

१. हिन्दू मूर्तिशास्त्र, भाग २, पृ ६७।

शिवलिंगकी पूजा करते हुए दिखाए गए हैं। ऊपरी कोनेमें आकाश-चारी देव पुष्पवृष्टि करता हुआ दिखाया गया है। मूर्तिके भिन्न-भिन्न भागोंका सयोजन या सँजोना बुद्धकी मूर्तियोंके समान ही है। शिलापट्टके बाएँ किनारे पर अंगूरकी बेल है। शकजातीय विदेशी किस प्रकार बिल्कुल भारतीय सस्कृति और धर्मके रगमे रग कर यहाँके देवी-देवताओंके प्रति अपनी मान्यता प्रकट करने लगे थे, उसका सुन्दर वर्णन इस मूर्तिमे मिलता है।

एकमुखी शिवलिंगोंसे शीघ्र ही चतुर्मुखी शिवलिंगोंका विकास किया जाना सम्भव है। जिस प्रकार कुषाणकालमे ही चतुर्मुखी जैन प्रतिमाओंके रूपमे सर्वतोभद्रिका प्रतिमाका स्वरूप बनने लगा था और जिस प्रकार स्तूपकी हरएक दिशामे एक-एक बुद्धमूर्ति अकित की जाने लगी थी, कुछ उसी प्रकारकी बात शिवमूर्तिके सम्बन्धमे भी चरितार्थ ज्ञात पडती है। जैन, बौद्ध और ब्राह्मणोंमे एक प्रधान मूर्तिको पचधा विभक्त करनेका कारण एक ही धार्मिक विचार-धारा ज्ञात होती है, और उस एकताका मूल स्रोत तान्त्रिक मत हो सकता है। तीनों ही धर्मोंमे इस युगमे तान्त्रिक कल्पनाका आरम्भ हो गया था। सम्भव है कि भागवतोंकी व्यूहात्मक कल्पनासे इस प्रकार चतुर्धा या पचधा विभागका विचार उत्पन्न हुआ, किन्तु यह सत्य है कि कुषाणकालमे ही शिवके पचात्मक रूप और बौद्धोंके पचात्मक बुद्धकी रचना कलामे होने लगी थी। पच बोधिसत्त्व और उनके पच ध्यानी बुद्ध, जिनकी कई मूर्तियाँ मथुरासे मिली हैं, पहले बताई जा चुकी है। आगे चलकर इसी मूल सस्थानसे बौद्धोंके बहुतसे छुटभैये देवी-देवताओंका विकास हो गया। शिवके पचात्मक रूपमे पाच मुखोंके नाम क्रमश ये हैं —

१ ईशान—जो सबके ऊपर बीचमे पूर्वाभिमुखी बनाया जाता था (=आकाश)

२ तत्पुरुष—पूर्वाभिमुखी (=वायु)

३ अघोर—दक्षिणाभिमुखी (=अग्नि)

४. वामदेव—वामाभिमुखी (=जल)

५. सद्योजात—पश्चिमाभिमुखी (=पृथ्वी)

संभवतः इस मूर्तिमें यूनानी और भारतीय दो भिन्न धार्मिक कल्पनाओंका सम्मिश्रण हुआ है। यूनानी देवता पोज़ीडनके हाथमें भी त्रिशूल रहता है और उसका चित्रण भी गुदफार और मावो (Maues) नामके पार्थियन राजाओंके सिक्कों पर पाया गया है।[1]

मथुरासे प्राप्त गुप्तकालीन दो सुन्दर मस्तकोंमें अर्धनारीश्वर रूपसे शिवका चित्रण है। दाहिने भागमें जटाजूट और चन्द्रका एवं बाएँ भागमें पटियादार केश और शिरोभूषण हैं। धनुषकी आकृतिकी भ्रूरेखा बहुत ही सुन्दरतासे अंकित की गई है। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथने वामभागमें पार्वतीका वहन करनेवाले शिवका वर्णन करते हुए लिखा है कि दाहिनी आँखके पड़नेसे बाईं आँख कभी-कभी संकुचित हो जाती है (सद्यःदक्षिणदृक्पातसंकुचद्‌-वामदृष्टये)। कुछ ऐसा ही भाव इस सुन्दर मूर्तिमें प्रकट हुआ है (मथुरा सं. संख्या ३६२)। मूर्ति सं. ७७२ भी गुप्तकालीन अर्धनारीश्वरका सुन्दर उदाहरण है।

गुप्तकालीन एक अन्य मूर्तिमें शिव और पार्वती कंधों पर हाथ रखे हुए दाम्पत्यमुद्रामें खड़े हैं और शिव ऊर्ध्वरेत चित्रित किये गए हैं। पैरोंके पास पीछे नंदीकी मूर्ति है। शिव व्याघ्रचर्म पहने हैं। पैरोंके बीचमें बाघका मुँह और घुटनेके पास पंजे दिखाए गए हैं। शिवके शरीर पर लम्बा सुवर्णसूत्री यज्ञोपवीत है। मूर्ति (मथुरा संग्रहालय सं. २०८४) तीन फुट ऊंची है और पत्थरके दोनों ओर उकेरी हुई है। सामनेकी ओरसे और पीछेकी ओरसे शिव, पार्वती और नंदीका दर्शन एक जैसा ही मिलता है।[2] विवाहके अनंतर शिव और पार्वतीके दाम्पत्यभावको प्रकट करनेवाली यह सुन्दर मूर्ति अपने ढंगकी एक ही है। शिवका दाहिना हाथ कंधेकी

---

१ बेनर्जी, वही, पृ १२३-१२५।

२. डिस्कालकर, वही, पृ. ३९, फलक १६-१७।

१० तीर्थंकर महावीर (कुषाणकालीन) (मथुरा संग्रहालय) पृ ८०
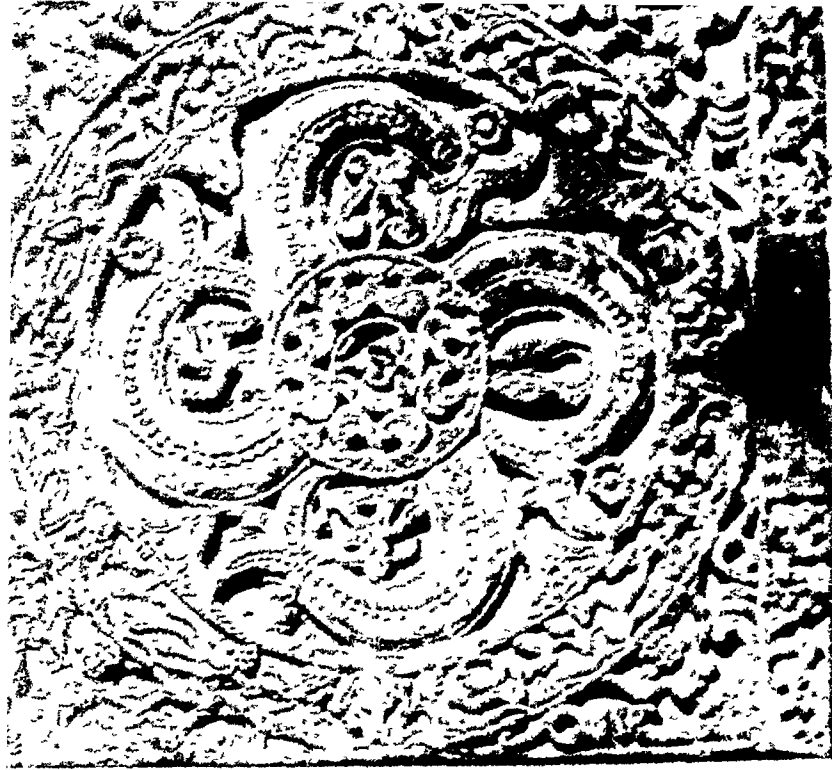
११. आयागपट्ट (लखनऊ संग्रहालय) पृ. ८२
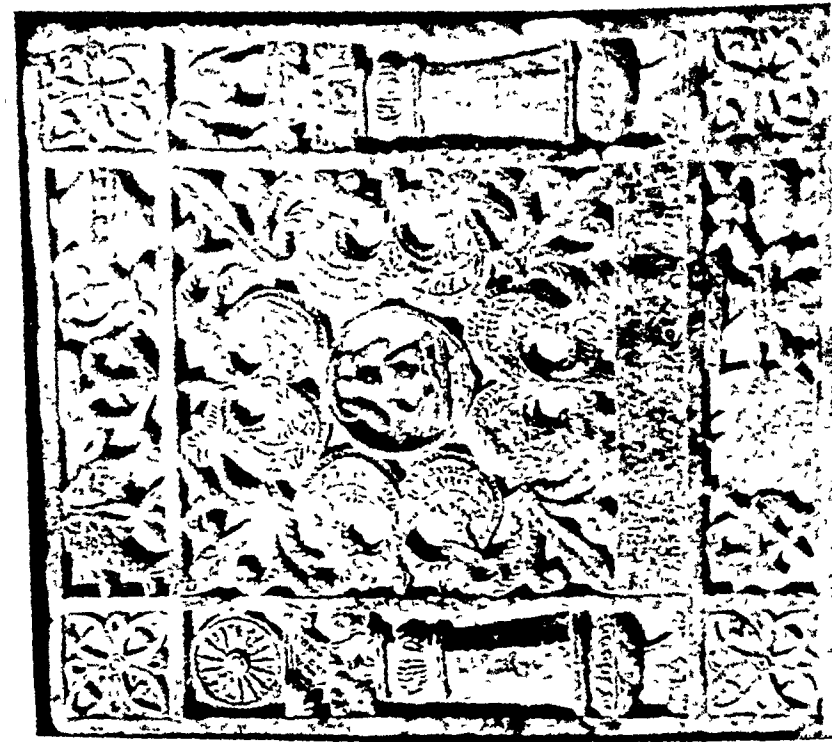
१२. आयागपट्ट—स्वस्तिकपट्ट (लखनऊ संग्रहालय) पृ. ८३
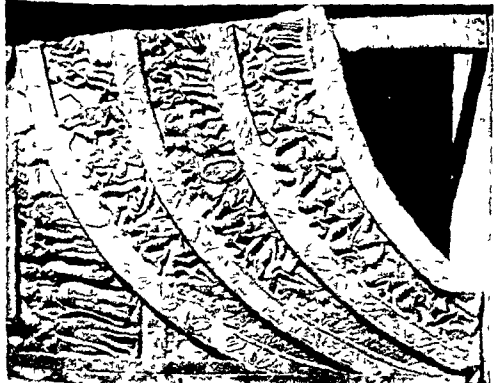
१३/१ तोरणपट्ट (लखनऊ सग्रहालय) पृ ८३

१३/२ तोरणपट्ट (लखनऊ सग्रहालय) पृ ८२

१४. वेदिकास्तम्भ-पद्मवरवेदिका (लखनऊ संग्रहालय) पृ. ३८

ओर उठा हुआ है और बायाँ हाथ, जो पार्वतीके गलेमे पडा हुआ है, कमलका फूल लिये है।

कैलासोद्धरण

मथुरा संग्रहालय म २५७७ वाली मूर्तिमें रावणके द्वारा कैलासोद्धरणका दृश्य अंकित है। कैलासपर्वत पर बीचमे शिव और उनके दाहिनी ओर उनके कंधेका सहारा लिये हुए पार्वती बैठी हैं। नीचे बहुत बडे सिरवाली एक बेल्याकार मूर्ति किटकिटाकर पहाड़को उठानेका जोर लगा रही है। शिवजी अपने दाहिने पैरसे रावणकी भुजाको दबा रहे हैं। कैलासकी चट्टानोंकी तह एक-दूसरीके ऊपर ढेर हैं और उनकी रचनासे ज्ञात होता है कि मानों पहाडकी संधियाँ ढीली होकर बाहर निकल आई हैं। कालिदासने समकालीन काव्यमें इसका वर्णन करते हुए कैलासके लिए लिखा है कि रावणके उठानेसे उसकी संधियोंके जोड ढीले पड गए थे (दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधे—मेघदूत १५८)। शिवजी अपने आपको समाहित करके रावणके भुजदण्डको अपने पैरसे दबा रहे हैं, जिसके कारण रावण तिलमिला गया है—

यदरोदीत् तस्माद्रावण ।

जो वह रोया, इसलिए रावण कहलाया। यद्यपि अन्यत्र एलोरा आदिमें भी इस कथाका चित्रण मिला है, परन्तु मथुराका उदाहरण सबसे प्राचीन है।

६ गणपति

मथुरा-कलामें कुषाणकालीन और गुप्तकालीन मूर्तियोंकी संख्या और देव-मूर्तियोंकी अपेक्षा थोड़ी हैं। शुंगकालीन गणेशकी मूर्तिका अब तक कोई प्रमाण भारतीय कलामें नहीं पाया गया। आरम्भिक कुषाणकालकी भी मूर्ति अभी तक प्राप्त नहीं हुई। पहले गणपतिकी मूर्ति यक्ष रूपमें बनी जान पड़ती है। एक कुषाणकालीन शिलापट्ट

पर (मथुरा सं. २३३५) सबसे ऊपर एक भित्तिवेदिका, बीचमें छः फूलमाला लिये हुए उपासकोंकी मूर्तियाँ और नीचे गजमस्तक-युक्त आकृतियोंवाले पांच गजानन यक्षोंका अलंकरण है। शिलापट्ट दूसरी–तीसरी शताब्दीके लगभगका है। अमरावतीमें भी इस प्रकारके गजानन यक्षोंका अंकन पाया गया है (कुमारस्वामी, यक्ष, भाग १, फलक २३, चित्र १)। लेकिन उत्तरकुषाणकालमें गणपतिकी मूर्तियाँ सम्भवतः बनने लगी थीं। ऐसी दो छोटी मूर्तियाँ मथुरा संग्रहालयमें हैं। इनमें गणेशजी द्विभुज, शूर्पकर्ण, एकदंत, लम्बोदर और बाईं ओरको सूंड उठाकर लड्डू खाते हुए दिखाए गए हैं। मूर्ति सं. ७६२में वे नाग-यज्ञोपवीत या साँपका जनेऊ पहने हैं। मूर्ति सं. १०६४में गणेशजी नृत्य कर रहे हैं।

गुप्तकालमें गणपतिकी मूर्तियोंका रिवाज कुछ ज्यादा चल गया जान पड़ता है। मूर्ति सं. ७५८ रचनाशैलीकी दृष्टिसे ठेठ गुप्तकालकी मूर्ति है। इसमें दो हाथवाले गणेशजी खड़े हुए दिखाए गए हैं। साँपका जनेऊ, एक दांत, बाईं ओर मुड़ी हुई सूंड और बाएँ हाथमें मिठाईका दोना—ये लक्षण पहलेकी तरह हैं। इसी समयकी एक दूसरी सुन्दर मूर्ति है, जिसमें गणपति कमलके फूलों पर खड़े हुए नृत्यमुद्रामें हैं। उनके बाएँ हाथमें कमलका फूल है। सूंड मुँहके पासको मुड़ी हुई है। मोदक-पात्रके स्पर्श करनेकी मुद्राका अभाव है।

मध्यकालमें गणेशकी प्रतिमाओंका आम रिवाज हो गया था। मथुरासे भी कई उदाहरण मिले हैं। मूर्ति सं. २५२में नृत्त–गणपतिकी एक दशभुजी मूर्ति है।

७. कार्तिकेय

कुषाणकालमें कार्तिकेयकी पूजाका गणेशकी अपेक्षा अधिक प्रचार था और उसका क्षेत्र भी बहुत दूर तक फैला हुआ था। तक्षशिलासे कार्तिकेयकी एक मूर्ति मिली है, जिस पर शक्ति और कुक्कुट अंकित हैं।[1] कानपुर ज़िलेमें लालाभगत गाँवके एक खम्भेके

[1] भारतीय पुरातत्त्व वार्षिकी, १९३५, फलक ८, चित्र एफ।

शीर्ष भाग पर कुक्कुटकी मूर्ति थी। स्तम्भे पर 'कुमारवर' ब्राह्मी लिपिमें खुदा हुआ है। उस पर चार घोडोंके रथमे बैठे हुए सूर्यकी मूर्ति भी है। ज्ञात होता है कि यह स्तम्भ स्वामी कार्तिकेयकी पूजाके लिये प्रतिष्ठित उनका कुक्कुटध्वज था, जैसे विष्णु के लिये प्रतिष्ठापित 'गरुडध्वज' पाए गए हैं।[1] महाभारतके सभापर्वसे ज्ञात होता है कि रोहतकका इलाका स्वामी कार्तिकेयकी पूजाका प्रधान क्षेत्र था। रोहतकसे और उसके आसपास दूसरे स्थानोंसे मिले हुए यौधेयगणके सिक्कों पर दो प्रकारकी कार्तिकेय-मूर्तियाँ पाई गई हैं एक तो एक सिरवाली है और दूसरी छ मस्तकवाली है। मूर्तिके चारों ओर 'भगवत' स्वामिनो ब्रह्मण्यदेवस्य कुमारस्य' लेख है। छ मस्तकवाली अर्थात् षडानन कार्तिकेयकी मूर्तिमें चार भिन्न प्रकार मिले हैं —

(१) जटाजूटके बिना दो पंक्तियोंमें छ मस्तक।

(२) ऊपरकी पंक्ति और नीचेकी पंक्तिके सिरोंमें जटाजूट बँधे हुए, जिससे कभी-कभी कार्तिकेयके बारह मस्तक होनेका भ्रम होता है।

(३) केवल ऊपरकी पंक्तिके सिरों पर जटाजूट हैं।

(४) केवल नीचेकी पंक्तिके तीन सिर जटाजूटसे अलंकृत हैं।

कुछ सिक्कों पर कार्तिकेयके पैरोंके पास एक कुक्कुट दिखाया गया है। कुछ सिक्कों पर मोर भी मिलता है।[2] सिक्कोंके दूसरी ओर देवीकी मूर्ति है, जिसका रूप कुछ सिक्कों पर एक सिरसे और कुछ पर छ सिरोंसे युक्त है।

मथुरामें सम्राट् हुविष्कके राज्यकालमें स्कन्दपूजाका विशेष उत्कर्ष हुआ जान पड़ता है। उसके सिक्कों पर स्कन्द, कुमार और

---

१ भारतीय पुरातत्त्व वार्षिकी १९२९-३०, लालामगन स्तम्भ पर प० माधो स्वरूप वत्सका लेख।

२ स्मिथ, इंडियन म्यूज़ियमके सिक्कोंकी सूची, भाग १, पृ ८२।

विशाख, जो तीनों कार्तिकेयकी संज्ञाएँ हैं, नामोल्लेखके साथ अंकित पाए गए हैं।[1]

मथुरासे मिली हुई कार्तिकेयकी मूर्तियाँ कुषाण और गुप्त-कालके लिये निश्चित प्रमाणकी सामग्री प्रस्तुत करती हैं। शक्तिधर कार्तिकेयकी एक कुषाणकालकी मूर्ति अभी हालमें मथुराके एक कुएँसे निकली है (मूर्ति सं. २९४९)। मूर्ति २॥। फुट ऊंची है और बहुत अच्छी एवं सुरक्षित दशामें है। मूर्तिका दाहिना हाथ अभय-मुद्रामें और बाएँमें एक लम्बी शक्ति है। सिर पर मुकुट, भौंहोंके बीचमें ऊर्णाबिन्दु, गलेमें तिकोना चपटा हार, हाथोंमें कड़े और कंगन और कटिप्रदेशमें धोती और मेखला है। यह इस मूर्तिका वेष और अलंकरण है। दो खुली हुई लटें कंधों पर छूट रही हैं, जो मूर्तिके बालभावकी सूचक हैं। इस मूर्तिकी शैली कुषाणकालीन बोधिसत्त्वकी मूर्तियोंसे मिलती है। मूर्ति हुविष्कके राज्यकालमें कुषाण-संवत् ३१में प्रतिष्ठापित की गई थी। लेख उसकी चरणचौकी पर खुदा हुआ है—सं. ३०१ हे. ४ दि. १ एतस्यां पूर्वायां कार्तिकेयस्य प्रतिमा प्रतिष्ठापिता। विश्वदेवेन विश्वसोमेन विश्वशिवेन विश्ववसुना चतसृभ्रातृ..............

इस प्रकार आयुधलक्षण और चरणचौकीके लेख इन दोनोंके आधार पर यह मूर्ति निश्चित रूपसे स्वामी कार्तिकेयकी है। अभि-व्यक्ति और रचना दोनों दृष्टियोंसे यह मूर्ति अत्यन्त श्रेष्ठ और सुंदर है। आरम्भिक गुप्तकालकी एक छोटी मूर्तिमें द्विभुजी कार्ति-केय दाहिने हाथमें शक्ति और बाएँमें कुक्कुट लिये हुए हैं। सिर पर जटाजूट है। मूर्ति तीसरी और चौथी शताब्दीके संधिकालकी है।

गुप्तकालीन एक विशेष मूर्ति (मथुरा सं. संख्या ४६६; महावनसे प्राप्त) में स्वामी कार्तिकेय मोरके ऊपर बैठे हुए हैं। उनके दाहिनी तरफ़ चतुर्मुख ब्रह्मा और बाई तरफ़ शिव हैं, जो कलसे लिये

१. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९३६—महासेनके रूपमें हुविष्क, एच. के. देवका लेख, पृ. १५४।

हुए कार्तिकेयका अभिषेक कर रहे हैं। मूर्तिमे दो छोटे पार्श्वचर अंकित हैं, जिनमे बाएँ पार्श्वचरका मस्तक बकरेका है। यह दक्ष प्रजापति की मूर्ति जान पड़ती है। दूसरे पार्श्वचरका सिर खंडित है। मत्तमयूरमुद्रामे नृत्य करते हुए मोरके पंख मूर्तिके पीछे उसके प्रभामंडलकी तरह अंकित हैं। मूर्तिके सिर पर जटाजूट है और यह मूर्ति लगभग पाँचवीं शताब्दीकी कही जाती है।

मूर्ति स १०२२ (पालीखेडा) और १५८९ (मधुवन) भी कुषाणकालीन छोटी मूर्तियाँ हैं। वनपर्व अध्याय २२९के अनुसार जिस समय देवसेनाके अधिपतिके रूपमे स्वामी कार्तिकेयका अभिषेक किया जाने लगा उस समय अनेक देवताओंने बहुत तरहकी उपहारसामग्री कार्तिकेयको भेंटमे दी, जिसमें अग्निने अरुण शिखावाला ताम्रचूड कुक्कुट अर्थात् लाल कलगीवाला मुर्गा स्कन्दको दिया। इस प्रकार कार्तिकेयके साथ मुर्गेका संबंध प्राचीन कालसे पाया जाता है और साथ ही उन्हें मयूरवाहन भी कहा गया है। कालिदासने 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन' अर्थात् मोरकी पीठ पर बैठे हुए कार्तिकेय—इन शब्दोंमे गुप्तकालीन कार्तिकेय-मूर्तिका चित्रण कर दिया है। यमुनाके तलसे प्राप्त मोरकी पीठ पर बैठी हुई एक बहुत ही विशिष्ट सौंदर्यसे युक्त कार्तिकेयकी मिट्टीकी मूर्ति प्राप्त हुई है, जो इस समय वहाँ संग्रहालयमे सुरक्षित है (स २७९४)।[1]

गुप्तकालके बाद कार्तिकेयकी प्रतिमाओंका बनना लगभग बंद हो गया।

---

[1] मथुरा संग्रहालय परिचय, वासुदेवशरण अग्रवाल विरचित, चित्र ४०।

जैन कला

मथुरा जैनधर्मका भी अत्यंत प्राचीन केन्द्र था। जिस प्रकार बौद्धोंने यहाँ प्राचीन स्तूपोंका निर्माण किया और जिस प्रकार हिन्दुओंने अपने देवताओंके लिए प्रासाद या मंदिरोंका निर्माण किया उसी प्रकार जैनधर्मके अनुयायी आचार्योंने मथुराको अपना केन्द्र बनाकर अपने भक्त श्रावक-श्राविकाओंको प्रेरित करके प्राचीन मथुरामें स्तूपों और मंदिरोंकी स्थापना की।

कंकाली टीलेकी खुदाईमें जैन-शिल्पकी अद्भुत सामग्री प्राप्त हुई है। उस टीलेकी भूमि पर एक प्राचीन जैनस्तूप और दो प्रासाद या मंदिरोंके चिह्न मिले हैं। अर्हत् नन्द्यावर्त अर्थात् अठारहवें तीर्थंकर अरनाथकी एक प्रतिमाकी चौकी पर खुदे हुए एक लेखमें लिखा है कि कोट्टिय गणकी वज्री शाखाके वाचक आर्य वृद्धहस्तीकी प्रेरणासे एक श्राविकाने देवनिर्मितस्तूपमें अर्हत्की प्रतिमा स्थापित की (एपिग्राफ़िया इण्डिका, भाग २, लेख २०)। यह लेख संवत् ८९ अर्थात् कुषाण-सम्राट् वासुदेवके राज्यकाल (ई. १६७)का है। उसका 'देवनिर्मित' शब्द महत्त्वपूर्ण है। बूलर, स्मिथ आदि विद्वानोंका विचार है कि इस समयमें स्तूपके वास्तविक निर्माण-कर्त्ताओंके विषयमें लोगोंका ज्ञान विस्मृत हो गया था और स्तूप इतना प्राचीन समझा जाने लगा था कि उसके लिये 'देवनिर्मित' इस नामकी कल्पना संभव हुई। हम भी समझते हैं कि 'देवनिर्मित' शब्द साभिप्राय है और जैसा 'रायपसेणियसुत्त'में देवों द्वारा विशाल स्तूपके निर्माणका वर्णन है, कुछ उसी प्रकारकी निर्माण-कल्पना मथुराके इस स्तूपके विषयमें की जाती थी। तिब्बतके विद्वान् बौद्ध इतिहासलेखक तारानाथने अशोककालीन शिल्पके

निर्माताओंको यक्ष कहा है और लिखा है कि मौर्यकालीन शिल्प-कला यक्षकला थी। उससे पूर्वयुगकी कला देवनिर्मित समझी जाती थी। अतएव देवनिर्मित शब्दकी यह ध्वनि स्वीकार की जा सकती है कि मथुराका देवनिर्मित जैन स्तूप मौर्यकालसे भी पहले लगभग पाँचवीं या छठी शताब्दी ई पू मे बना होगा। जैन विद्वान् जिनप्रभसूरिने अपने विविधतीर्थकल्प ग्रथमे मथुराके इस प्राचीन स्तूपके निर्माण और जीर्णोद्धारकी परम्पराका उल्लेख किया है। उसके अनुसार यह माना जाता था कि मथुराका यह स्तूप आदिमे सुवर्णमय था। उसे कुबेरा नामकी देवीने सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वकी स्मृतिमे बनवाया था। कालान्तरमे २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथके समयमे उसका निर्माण ईंटोंसे किया गया। भगवान महावीरकी सबोधिके तेरह सौ वर्ष बाद बप्पभट्टसूरिने इसका जीर्णोद्धार कराया। इस उल्लेखसे यह ज्ञात होता है कि मथुराके साथ जैनधर्मका संबध सुपार्श्व तीर्थंकरके समयमे ही हो गया था और जैन लोग उसे अपना तीर्थ मानने लगे थे। पहले यह स्तूप मिट्टीका रहा होगा, जैसा कि मौर्यकालसे पहलेके बौद्ध स्तूप हुआ करते थे। उसी प्राचीन स्तूपका जब पहला जीर्णोद्धार हुआ तब उस पर ईंटोंका आच्छादन चढाया गया। जैन परम्पराके अनुसार यह परिवर्तन महावीरके भी जन्मके पहले तीर्थंकर पार्श्वनाथके समयमे हो चुका था। इसमे कोई अत्युक्ति नहीं जान पड़ती। उसी इष्टकानिर्मित स्तूपका दूसरा जीर्णोद्धार लगभग शुगकालमे (दूसरी शती ई पू में) किया गया, जबकि शुगकालीन बौद्ध स्तूपोंकी भाँति इस जैन स्तूपके निर्माण और जीर्णोद्धारमे खुल कर पत्थरोंका उपयोग किया गया। उस समय तीन विशेष परिवर्तन हुए ज्ञात होते है। एक तो मूल स्तूप पर शिलापट्टोंका आच्छादन चढ़ाया गया। दूसरे उसके चारों ओर चार तोरणद्वारोंसे सयुक्त एक भव्य वेदिकाका निर्माण कराया गया। इस वेदिकाके जो अनेक स्तम्भ प्राप्त हुए हैं उन पर कमलके अनेक फुल्लोंकी बहुत ही बढिया सजावट है। इस आधार पर

वह पद्मवरवेदिकाका नमूना जान पड़ती है, जिसका उल्लेख रायपसेणियसुत्तमें आया है। हो सकता है कि धार्मिक उपासक लोग वास्तविक कमलके खिले हुए फूलोंसे इस प्रकारकी पुष्पमयी वेदिका बनवाकर विशेष अवसरों पर स्तूपकी पूजा किया करते थे। कालान्तरमें उन कमलके फुल्लोंकी अनुकृति काष्ठमय वेदिका-स्तम्भों पर उत्कीर्ण की जाने लगी और सबसे अन्तमें पत्थरके खम्भों पर कमल के फुल्लोंके जैसे ही अलंकरण और सजावट-युक्त बेलें उकेरी जाने लगीं। इसी प्रकारकी पद्मवरवेदिकाका एक सुंदर उदाहरण मथुराके देवनिर्मित जैन स्तूपकी खुदाईमें प्राप्त शुंग-कालीन स्तंभों पर सुरक्षित रह गया है।

वेदिकास्तंभोंके बीच बीचमें लगे हुए सूचिपटों पर और उष्णीषपटों पर भी बहुत ही सुन्दर उकेरी को सज प्राप्त हुई है। उसके अनेक नमूने इस समय लखनऊ संग्रहालयमें सुरक्षित हैं। एक तोरणकी सिरदल पर स्तूपपूजाका दृश्य अंकित है, जिसकी शैली शुंगकालकी है। उसमें किन्नर और सुपर्ण स्तूपकी पूजा करते हुए अंकित किये गये हैं। तीसरी विशेषता यह हुई कि स्तूपके समीप ही एक देवप्रासादका भी निर्माण कराया गया।

ई. पू. दूसरी शतीसे लेकर ई. की ११वीं शती तकके शिलालेख और शिल्पके उदाहरण जैन स्तूप और मंदिरोंके अवशेषोंसे प्राप्त हुए हैं। इससे यह निश्चित है कि जैन शिल्पकी यह परम्परा उसी स्थान पर लगभग तेरह सौ वर्षों तक चालू रही। मथुरा इस युगमें बहुत ही महान् शिल्प-तीर्थ था। विशेषतः कुषाणयुगमें मथुरा-शिल्पका वैभव अत्यंत उत्कृष्ट हो गया। जैन शिल्पके क्षेत्रमें यहाँके भव्य देवप्रासाद, उनके सुन्दर तोरण, वेदिकास्तम्भ, मूर्धन्य या उष्णीष पत्थर, उत्फुल्ल कमलोंसे सज्जित सूचिपट्ट, स्वस्तिक आदिसे अलंकृत आयागपट्ट, सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएँ आदिके सुन्दर उदाहरण भारतीय शिल्पका गौरव समझे जाते हैं।

मथुरासे मिले हुए अनेक शिलालेख जैनधर्मके प्राचीन इतिहास पर मूल्यवान् प्रकाश डालते हैं। जैन संघके जिस विपुल संगठनका उल्लेख कल्पसूत्र प्रथमे आता है उससे संबंधित गच्छ, कुल और शाखाओंका वास्तविक उल्लेख जब हम मथुराके प्राचीन शिलालेखोंमें पाते हैं तो यह सिद्ध हो जाता है कि कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमें उल्लिखित इतिहास प्रामाणिक है। जैन संघके आठ गणोंमें से चारका नामोल्लेख मथुराके लेखोंमें हुआ है, अर्थात् कोट्टियगण, चारणगण, उद्देहिकगण और वेशवाटिकगण। इन गणोंसे संबंधित जो कुल और शाखाओंका विस्तार था उनमें से भी लगभग बीस नाम मथुराके लेखोंमें पाये गये हैं। इससे सूचित होता है कि जैन भिक्षुसंघका बहुत जीता-जागता केन्द्र मथुरामें विद्यमान था और उसके अन्तर्गत अनेक श्रावक-श्राविकाएँ धर्मका यथावत् आचरण और पालन करती थीं।

उदाहरणके लिए देवपाल श्रेष्ठीकी कन्या, श्रेष्ठिसेनकी धर्मपत्नी क्षुद्राने वर्धमानकी प्रतिमाका दान दिया। श्रेष्ठी वेणीकी धर्मपत्नी, भट्टिसेनकी माता कुमारमित्राने आर्या वसुलाके उपदेशसे एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमाकी स्थापना की। यह वसुला आर्य जयभूतिकी शिष्या आर्या संगमिका की शिष्या थी। सब लोकोत्तम अर्हंतोंको प्रणाम करनेवाली सुचिलकी धर्मपत्नीने भगवान् शान्तिनाथकी प्रतिमा दानमें दी। वश्री शाखाके वाचक आर्य मातृदत्त, जो आर्य बलदत्तके शिष्य थे, इसके गुरु थे। मणिकार जयभट्टकी दुहिता, लोहवणिज फल्गुदेवकी धर्मपत्नी, मित्राने कोट्टियगणके अन्तर्गत ब्रह्मदासिककुलके बृहन्तवाचक गणिजमित्रके शिष्य, आर्य ओघके शिष्य, गणि आर्यपालके श्रद्धाचर वाचक, आर्यदत्तके शिष्य वाचक, आर्यसिंहकी निवर्तना या प्रेरणासे एक विशाल जिनप्रतिमाका दान दिया। आर्य वन्दसकी शिष्या आर्या कुमारमित्रा तपस्विनीको शिलालेखमें 'संशित, मखित, बोधित' कहा गया है। वह भिक्षुणी हो गई थी, किन्तु उसके पूर्वाश्रमके पुत्र गंधिक कुमार भट्टिने एक जिनप्रतिमाका दान किया। यह

मूर्ति कंकाली टीलेके पश्चिमी भागमें स्थित दूसरे देवप्रासादके भग्नावशेषमें मिली थी। पहले देवप्रासादकी स्थिति इस मंदिरके कुछ पूर्वकी ओर थी। ग्रामिक जयदेवकी पुत्रवधूने संवत् ४०में शिलास्तम्भका दान दिया। आर्या शामाकी प्रेरणासे जयदासकी धर्मपत्नी गूढाने ऋषभप्रतिमा दानमें दी। श्रमणश्राविका बलहस्तिनीने अपने माता-पिता और सास-ससुरकी पुण्यवृद्धिके लिए एक बड़े तोरणकी स्थापना की।

कंकाली टीलेके दक्षिण-पूर्वभागमें डॉ. बर्जेसकी खुदाईमें एक सरस्वतीकी प्रतिमा प्राप्त हुई थी। उसे लोहेका काम करनेवाले (लोहिककारुक) गोपने स्थापित किया था। इसी स्थान पर धनहस्तीकी धर्मपत्नी और गृहदत्तकी पुत्रीने धर्मार्य नामक श्रमणके उपदेशसे एक शिलापट्टका दान किया, जिस पर स्तूपकी पूजाका सुन्दर दृश्य अंकित है। जयपाल, देवदास, नागदत्त और नागदत्ताकी जननी श्राविका दत्ताने आर्य संघसिंहकी प्रेरणासे वर्धमान-प्रतिमाका ई. ९८में दान किया। स्वामी महाक्षत्रप शोडासके राज्य–संवत्सर ४२में श्रमण-श्राविका अमोहिनीने आर्यवईकी प्रतिमाका दान किया। तपस्विनी विजयश्रीने, जो राज्यवसुकी दादी थी, एक मासका उपवास करनेके बाद सं. ५० (१२८ ई.) में वर्धमानप्रतिमाकी स्थापना की।

इस प्रकार जैन संघके इतिहासके अन्तर्गत अनेक श्रमणश्राविका-ओंके पुण्य कार्योंका उल्लेख भी मथुराके अभिलेखोंमें पाया जाता है, जिनकी धार्मिक भावनासे अधिकांश कलाकृतियोंकी रचना की गई।

मथुराकी जैन कलामें निम्नलिखित प्रकारकी मूर्तियाँ पाई जाती हैं—आयागपट्ट, तीर्थंकर प्रतिमाएँ, देवी-मूर्तियाँ, स्तूपोंके तोरण, शालभंजिका, वेदिकास्तम्भ, उष्णीष आदि। आयागपट्टका मूल है आर्यकपट्ट, अर्थात् पूजाके लिए स्थापित शिलापट्ट, जिस पर स्वस्तिक, धर्मचक्र आदि अलंकरण या तीर्थंकरकी प्रतिमा अंकित की गई हो। स्तूपके प्रांगणमें इस प्रकारके पूजाशिलापट्ट या आयागपट्ट ऊंचे स्थंडिलों पर स्थापित किये जाते थे और दर्शनार्थी

उनकी पूजा करते थे। मथुराकी जैन शिल्पकलामें आयागपट्टोंका महत्त्वपूर्ण स्थान है। विशुद्ध सौन्दर्यकी दृष्टिसे उन पर जो अलंकरणोंके संयोजनकी छवि है वह नेत्रोंको मोहित कर लेती है। उदाहरणके लिए सिंहनादिक द्वारा स्थापित आयागपट्ट पर ऊपर-नीचे अष्टमांगलिक चिह्न अंकित हैं और दोनों पार्श्वों में एक ओर चक्रांकित ध्वज-स्तम्भ तथा दूसरी ओर गजांकित स्तम्भ है। बीचमें चार त्रिरत्नोंके मध्यमें तीर्थंकरकी बद्धपद्मासनस्थित मूर्ति है (लखनऊ संग्रहालय जे २४९)। लखनऊ संग्रहालयमें एक दूसरा आयागपट्ट है (जे० २५०), जिसके मध्यभागमें एक बड़ा स्वस्तिक अंकित है और उस स्वस्तिकके गर्भमें एक छोटी तीर्थंकरकी मूर्ति है। स्वस्तिकके आवेष्टनके रूपमें सोलह देवयोनियोंसे अलंकृत एक मण्डल है, जिसके चार कोनों पर चार महोरग-मूर्तियाँ हैं। नीचेकी ओर अष्टमांगलिक चिह्नोंकी बेल है। इस प्रकारके पूजापट्टको प्राचीन परिभाषामें स्वस्तिकपट्ट कहते थे। एक तीसरे आयागपट्ट (लखनऊ संग्रहालय जे २४८)के मध्यमें षोडशारधर्मचक्रकी आकृति अंकित है। उसके चारों ओर तीन मंडल हैं। पहलेमें १६ नन्दिपद, दूसरेमें अष्ट दिक्कुमारिकाएँ और तीसरेमें कुण्डलित पुष्कर स्रज या कमलोंकी माला है और चार कोनोंमें चार महोरग-मूर्तियाँ हैं। इस प्रकारका पूजापट्ट प्राचीन कालमें चक्रपट्ट कहलाता था।

आयागपट्ट (जे २५५)की स्थापना फल्गुयश नर्तककी पत्नी शिवयशाने अर्हत्पूजाके लिए की थी। इस पर प्राचीन मथुरा-जैनस्तूपकी आकृति अंकित है, जिसके एक ओर तोरण, वेदिका और सोपान भी दिखाए गए हैं।

मथुरा संग्रहालयमें भी एक आयागपट्ट है (क्यू २), जिसकी स्थापना गणिका लावण्यशोभिकाकी पुत्री श्रमणश्राविका गणिका वसुने अर्हतोंके मन्दिरमें अर्हत्पूजाके लिए की। इस पर भी स्तूप, तोरण, वेदिका और सोपान अंकित हैं।

कंकाली टीलेसे मिली हुई दो विशिष्ट मूर्तियोंकी ओर ध्यान

दिलाना आवश्यक है। इनमेंसे एक देवी सरस्वतीकी मूर्ति है, जिसकी स्थापना संवत ५४में गोप नामक लोहिएने की थी। सरस्वतीके बाएँ हाथमें पुस्तक है। अबतककी प्राप्त सरस्वती-मूर्तियोंमें यह प्रतिमा सबसे प्राचीन है। प्राचीन जैनधर्ममें सरस्वती और लक्ष्मी दोनों देवियोंकी मान्यता और पूजा प्रचलित थी।

दूसरी उल्लेखनीय मूर्ति देवी आर्यवतीकी है, जो क्षत्रप शोडासके राज्यकालमें संवत ४२में स्थापित की गई। छत्र और चँवर लिये हुए दो पार्श्वचर स्त्रियाँ आर्यवतीकी सेवा कर रही हैं, जिससे उसका राजपद सूचित होता है। संभव है, आर्यवतीका यह अंकन महावीरकी माता क्षत्रियाणी त्रिशलाके लिए ही हो।

नैगमेश मूर्ति : प्राचीन जैनधर्ममें नैगमेश नामक एक देवता की पूजा प्रचलित थी। कहा जाता है कि इस देवताने गर्भस्थ बालक महावीरको ब्राह्मणी देवानंदाके गर्भसे निकालकर क्षत्रियाणी त्रिशलाके गर्भमें पहुँचाया था। नैगमेशकी एक सुन्दर मूर्ति कंकाली टीलेसे प्राप्त हुई थी, जो इस समय लखनऊ संग्रहालयमें है। उस पर देवताका नाम भी लिखा है। यह मूर्ति अजमुखी है। नैगमेश बच्चोंके मंगलदेवता माने जाते थे।

तीर्थंकर-मूर्तियाँ : मथुरा और लखनऊके संग्रहालयोंमें अनेक तीर्थंकर-मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। इनमें कुषाण संवत् ५से लेकर ९५ तककी मूर्तियाँ हैं, किन्तु उसके बाद भी तीर्थंकर-मूर्तियोंकी स्थापनाका क्रम ११वीं शताब्दी तक चलता ही रहा। कलाकी दृष्टिसे गुप्तकालकी पद्मासनमें बैठी हुई प्रतिमाएँ सुन्दर हैं।

ये मूर्तियाँ तीन प्रकारकी हैं : (१) कायोत्सर्ग मुद्रामें खड़ी हुई मूर्तियाँ, (२) पद्मासनमें बैठी हुई ध्यानस्थ मूर्तियाँ, तथा (३) सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएँ, अर्थात चारों दिशाओंमें खड़े हुए या बैठे हुए चार तीर्थंकरोंको मिलाकर बनाई हुई मूर्तियाँ। इन तीर्थंकरोंकी पहचान इस प्रकार की जा सकती है। पहले तीर्थंकर ऋषभनाथ या आदिनाथ, सातवें सुपार्श्व, तेईसवें पार्श्वनाथ, चौबीसवें महावीर। इन

मूर्तियोंकी चौकी पर पार्श्वमें सिंह बने रहते हैं और बीचमें धमचक्र या स्तूपकी पूजाका दृश्य अंकित होता है। भक्त गृहस्थ स्त्री और पुरुष अपने परिवारके सदस्योंको लेकर पूजा करते हुए दिखाये जाते हैं। कलाकी दृष्टिसे जैन तीर्थंकर-मूर्तियोंमें समाधि-जन्य स्थिरता और ऊर्ध्वता पाई जाती है। बाहरी ओर उनका आकर्षण नहीं होता, किन्तु वे ही शिल्पी, जो प्रतिमाओंके अंकनमें इतनी संयतवृत्तिका परिचय देते थे, जब तोरण और वेदिका-स्तंभों पर जीवनसंबंधी दृश्योंका चित्रण करने लगते हैं तो ऊँचे कलात्मक सौष्ठवका परिचय देते हैं। जैसे आयागपट्टों पर अंकित शिल्पका माधुर्य मनको मोहित किए बिना नहीं रहता। वे कला-विदोंकी श्रेष्ठ प्रतिभाके सूचक हैं।

अनेक वेदिकास्तम्भों और सूचि-दलोंकी सुन्दर सजावट भी मथुरा कलाकी अनुपम देन है। उनमें नाना प्रकारके मृग पशुपक्षियोंकी आकृतियाँ सूचियोंके फुल्लों पर पाई जाती हैं। आभूषण-संभारोंसे सन्नतांगी रमणियोंके सुखमय जीवनका अमर वाचन एकबार ही इन स्तम्भोंके दर्शनसे सामने आ जाता है। अशोक, बकुल, आम्र और चम्पकके उद्यानोंमें पुष्पभंजिकाक्रीडामें प्रवण, स्नान और प्रसाधनमें संलग्न पौराङ्गनाओंको देखकर कौन मुग्ध हुए बिना रह सकता है? भक्तिभावसे पूजाके लिए पुष्पमालाओंका उपहार लाने-वाले उपासकवृन्दोंकी शोभा और भी निराली है। सुपर्ण और किन्नर सदृश देवयोनियाँ भी पूजाके इन श्रद्धामय कृत्योंमें बराबर भाग लेती हुई दिखाई गई हैं।

मथुराके इस शिल्पकी महिमा केवल भावगम्य है।

मिट्टीकी मूर्तियाँ

पूर्व अध्यायोंमें हमने मथुरा-कलाके अन्तर्गत बौद्ध, ब्राह्मण और जैन मूर्तियोंका वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त मथुरामें सहस्रोंकी संख्यामें मृण्मय मूर्तियाँ भी बनाई गईं। इन्हें सरल भाषामें मिट्टीके खिलौने कहा जाता है। ये मूर्तियाँ लगभग चौथी शती ईसवी पूर्व या मौर्य्ययुगसे ही बनने लगी थीं और मध्यकाल अर्थात् बारहवीं शती तक बनती रहीं। इससे यह विदित होता है कि मथुराकी पाषाण शिल्पकलाके दीर्घकालीन इतिहासके साथ-साथ मिट्टीके खिलौनोंके इतिहासकी लम्बी पगडण्डी भी बिछी हुई है। मिट्टीके खिलौनोंके साथ-साथ मृत्पात्र, मृद्भाण्ड या मृद्भाजन अर्थात् मिट्टीके बर्तनोंका इतिहास भी था, पर उनकी वास्तविक सामग्री सुरक्षित नहीं रही। मिट्टीके खिलौने और बर्तनोंके बनानेवाले कलाकार, जिन्हें कुम्भकार और पुस्तकृत भी कहा जाता था, शिल्पकी निपुणतामें बहुत बढ़ेचढ़े थे। उत्तरी भारतमें उनका विशेष सम्मानित स्थान था। खिलौनोंके जैसे नमूने मथुरामें मिले हैं, उन्हींसे मिलतेजुलते अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, वाराणसी, पाटलिपुत्र आदि स्थानोंमे शुंग, कुषाण एवं गुप्तयुगकी कलामें पाए गए हैं।

युग-विभागकी दृष्टिसे मथुराके मिट्टीके खिलौनोंका इतिहास इस प्रकार है:—

१. मौर्यकाल	३२५ ई. पू. से १८४ ई.पू.
२. शुंग–कण्वकाल	१८४ ई. पू. से लगभग १ ईसवी तक
३. शक-कुषाणकाल	१ ईसवी से ३२० ईसवी तक
४. गुप्तकाल	३२० ई. से ६५० ई.
५. मध्यकाल	६५० ई से १२०० ई.

रचना या निर्माणविधिकी दृष्टिसे मौर्ययुगके खिलौने अधिकांश हाथसे छीलियाकर (Hand-modelling) बनाए गए हैं। उस समय साँचोंका प्रयोग प्रायः नहीं होता था अथवा यह कहना अधिक ठीक होगा कि पूर्व मौर्यकालके खिलौने एकदम हाथसे कोरकर बनाए गए हैं, पर उत्तर मौर्यकालके खिलौनोंमें मस्तक साँचेमें ठेप कर और शेष शरीर हाथसे बनाया जाता था। इनकी पकाई हुई मिट्टी अधिकांश काले रंगकी और पत्थर जैसी ठोस है। शुंगयुगमें खिलौनोंकी रचना प्रायः साँचोंसे की जाने लगी। कोई चतुर उस्ताद जो साँचा बना देता, उसीसे उसके शागिर्द या मीरासवर चेले साँचोंमें मिट्टी दबाकर बहुतसे धार या हूबहू नमूने तैयार कर लेते थे। इस तरह कलाकी वस्तुएँ सस्यामें अधिक और मूल्यमें सस्ती तैयार हो जाती थीं। इसीलिए शुंगयुगमें मिट्टीके खिलौनोंकी बाढ़-सी आ गई, क्योंकि साँचोंकी नई युक्तिका भरपूर उपयोग कलाकारोंने किया। पक्की मिट्टी, काले रंग और रचनाकौशलकी दृष्टिसे शुंगकालके खिलौने मौर्य युगसे भी बढ़कर हैं। इस कालको मथुराकी मृण्मय मूर्तियोंका स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

कुषाणयुगमें खिलौनोंकी कलाका एकाएक ह्रास हो गया। न तो मूर्तियोंकी रचना अच्छी है और न पकी मिट्टी ही उतनी बढ़िया है। यह एकदम भुरभुरी और भूसीदार है। इसमें पकाने पर गुदने जैसे छेद दिखाई देते हैं। खिलौनोंके विषयोंमें भी सुन्दरता और सुरुचि नहीं है। फिर भी शुंगयुगकी परम्परामें कुछ खिलौने ऐसे भी बनाए गए जो कुषाणयुगकी सुन्दर कलाका परिचय देते हैं। इनमें धनुषबाण लिए हुए कामदेवकी एक सुन्दर मूर्ति है। कुषाणयुगमें साँचोंका प्रयोग कम हो गया और हाथसे मिट्टीकी टोलाई अधिक होने लगी। यह बात कुछ अचरजकी है, क्योंकि कुषाणयुगमें पत्थरकी मूर्तियोंकी घड़ाई बहुत सूक्ष्म और सुरुचिपूर्ण होने लगी थी।

गुप्तयुगमें मथुरा-कलामें मिट्टीके खिलौनोंका भाग्य फिर लौट आया। उस समय छोटे आकारके खिलौनोंके साथ बड़े आकारके

मृण्मय फलक या मिट्टीकी चौखटेदार मूर्तियाँ भी अधिक संख्यामें बनने लगीं। पुस्तकृत शिल्पियोंने, जैसा वर्णन लिखा है, अपनी कलाका समर्थ विकास किया। उसके फलस्वरूप पूरे मन्दिर या स्तूप फूलपत्तीदार पकाई हुई ईंटोंसे और बड़े फलकोंकी सजावटसे बनाए जाने लगे। इस युगमें यद्यपि मथुरामें खिलौने बनानेका विशेष केन्द्र था, किन्तु अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, वाराणसी आदिमें भी वैसी ही सुन्दर मूर्तियाँ बनाई जाने लगी थीं।

अंकित होनेवाले विषयोंकी दृष्टिसे भी मथुराके पार्थिवों (terracottas)का इतिहास ध्यान देने योग्य है। मौर्ययुगमें अधिकांश मूर्तियाँ मातृदेवीकी हैं, जिसकी पूजा प्राचीन युगसे चली आई थी। उसकी मूर्तियाँ सिन्धु-घाटीमें भी पाई गई हैं। यद्यपि कलाकी दृष्टिसे दोनोंकी रचनामें कुछ भेद कुछ साम्य है, पर विषयकी दृष्टिसे दोनों किसी एक प्राचीन मातृदेवीकी पूजाका प्रमाण देती हैं। मथुराकी मूर्तियाँ बहुतसे गहनोंसे लदी हुई हैं। सिर पर केशगम्भार फूलों और मांगलिक चिह्नोंसे अलंकृत हैं। मस्तक और मुखको छोड़कर शरीरका और भाग भौंडा एवं हाथसे गोलियाया गया है।

शुंगकालीन खिलौने लोगोंके सामाजिक जीवन और आमोद-प्रमोदके परिचायक हैं। उसमें तीन तरहकी मूर्तियाँ प्रधान हैं। एक तो मातृदेवीकी साँचोंमें ढली सुन्दर मूर्तियाँ हैं। दूसरे अनेक प्रकारकी क्रीड़ाएँ करते हुए तथा नृत्य और गीतमें संलग्न मिथुन-दम्पती या अकेले स्त्री-पुरुषोंके अंकन हैं। तीसरे खिलौनोंकी बहुत बड़ी संख्या ईरानी पुरुष-मूर्तियोंकी है, जिन्हें मथुराके इतिहासकी पृष्ठभूमिमें शक कहा जा सकता है। इनकी मुखाकृति गालोंकी उभरी हुई हड्डियाँ, नुकीली ठुड्डी पर खसखसी दाढ़ी छाया कभी-कभी गाजर-पूंगी अथवा झालरदार दाढ़ी, शरीरके नीचे भागमें तहमद—यह उनके विदेशी होनेके स्पष्ट संकेत है। मथुराके कुम्हारोंने जब इन विदेशी लोगोंको अपने बीचमें पाया तो उनकी आकृतियोंको हूबहू मिट्टीके खिलौनोंमें उतार लिया। अबतक ये मूर्तियाँ संख्यामें कई हजार मिल चुकी हैं और प्रतिवर्ष बढ़ती जाती हैं।

कुषाणयुगके खिलौनोंमें घुड़सवार, हाथीवान, बौने, बबुए आदिकी भौंडी मूर्तियाँ हैं। गुप्तयुगमें एक तो स्त्री-पुरुषोंके सुन्दर केशविन्यास-युक्त मस्तक हैं और दूसरे कुछ बड़े आकारकी ब्राह्मणधर्म सम्बन्धी देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ हैं। इनमें विश्रान्त घाटके पास यमुनाजीके बालूकी तलहटीमें मिली हुई स्वामी कार्तिकेयकी एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति है। इसी प्रकारकी एक दूसरी चौखटेदार मृण्मूर्ति है, जिसमें एक रानी और विदूषक अन्त पुरकी नाट्यक्रीडामें सलग्न दिखाए गए हैं।

शब्दसूची